यथार्थ–दर्शन

प्रकाश में दृष्टि द्वारा दर्शन होता है। अन्धकार में शक्ति द्वारा ग्रहण होता है। यथार्थ द्रष्टा के वचनों द्वारा यथार्थ जानकारी होती है।

एक अखण्ड अनन्त में सत्य परमात्मा में अगणित आरम्भों एवं अन्तों को देखते हुए मेरे ही समान जीवन यात्रा करने वाले पथिकों! शब्दों द्वारा मैं अपनी जानकारी का जो कुछ परिचय दे रहा हूँ यह मेरी ही जानकारी न होकर आपकी भी जानकारी होगी।

जन्म लेने के पश्चात् जिन व्यक्तियों को निरन्तर अपने निकट देखता रहा उन्हीं को अपना सम्बन्धी मानने लगा; जो कुछ बोलते सुना वैसा ही बोलने का अभ्यास हो गया एवं जैसा करते देखा वैसा ही करने लग गया और जैसा अपने निकट रहने वालों ने बताया वैसा ही मानते हुए जो जो वे बने थे वही सब कुछ मैं भी बन गया।

आरम्भ में आंखों से देखा, फिर सुना, फिर माना, फिर कुछ रटा, तत्पश्चात् कुछ पढ़ा, पुनः कुछ सीखा, तदुपरान्त बहुत समय बीतने पर समझने की स्थिति प्राप्त हुई।

जैसे–जैसे समझने की शक्ति विकसित होती गई वैसे–वैसे दीखने लगा कि जो कुछ कर रहा हूँ उसमें भूल चल रही है, उसी भूल के कारण कष्ट एवं दुःख हैं। जो कुछ मैं अपना पराया मान रहा हूँ और जो कुछ बन रहा हूँ वहीं पर भ्रम है और उस भ्रम का परिणाम अशान्ति है, जो कुछ मैं जान रहा हूँ उसके साथ अज्ञान है, उसी अज्ञान के कारण अनेकों बन्धन हैं। अज्ञान में ही बनने का सुख है, बिगड़ने का दुःख है।

मैं सदा से यही चाहता रहा कि दुःखी न रहूँ, अशान्त न रहूँ, बन्धन में न रहूँ परन्तु सारे प्रयत्न, घोर श्रम, तथा विद्या, कला, योग्यता शक्ति सम्पत्ति के सहारे दुःख की, अशान्ति की, बन्धन की निवृत्ति नहीं हो सकी।

हम बाल्यकाल से जिन लोगों के साथ रहे उन्होंने हमें जो कुछ सुनाया वही सुनते आ रहे थे, जैसा अभ्यास हो गया वही सरलता से करते जा रहे थे, किन्तु एक विचित्र पुरुष ने, जिसे लोग सन्त महात्मा कहते हैं उसने हमें सावधान किया और यही समझाया कि सबकी सुन चुके हो, अब भगवान की भी सुनो सबकी मानते जा रहे हो और मानने के कारण ही शरीरों के मोही बन गए हो तथा वस्तुओं के लोभी बन गए हो और कुछ वस्तुओं व्यक्तियों पर अधिकार मानकर अभिमानी बन गए हो; परन्तु तुम जो कुछ भी बन रहे हो, वही बने रहने का प्रयत्न करते हुए भी बिगड़ जाओगे; क्योंकि तुम्हारा स्वतन्त्र अधिकार किसी वस्तु या व्यक्ति पर नहीं है। तुम जिसके स्वामी बन रहे हो उसका स्वामी पहले से ही विद्यमान है। वह इतना समर्थ है, इतना महान है, इतना पूर्ण है, कि उसमें किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है; इसीलिये वह सबको बिना कुछ मूल्य लिये देता ही जाता है परन्तु पाने वाला भिखारी अहंकार मिले हुए का भोग में दुरुपयोग करते हुए खोता ही जाता है।

सन्त ने हमें सावधान किया कि सब कुछ पाने वाले और मिली हुई देहादिक वस्तुओं को नष्ट भ्रष्ट करने वाले तुम्हीं अहंकार के रूप में हो, तुम्हीं वह दरिद्र हो, भिखारी हो, जो सदा माँगते ही रहते हो। कितना काल बीत गया अभी तक धन से, भोग से, मान से सन्तुष्ट ही नहीं होते हो और मूर्ख एवं मूढ़ इतने हो कि जो सब कुछ का दाता है, स्वामी है ,उसे न जानकर स्वयं ही सब कुछ के स्वामी बन रहे हो। अब उसी समर्थ कृपानिधान की यह कृपा है कि तुम्हें सुनने का अवसर सुलभ किया है और इस समय यह बात बहुत ध्यान से सुन

लो कि सबकी सुनते आये हो अब सब कुछ के स्वामी समर्थ भगवान की सुनो। सबकी मानते आये हो, अब भगवान की मानो। अभी तक जो समझ में आया वही करते आ रहे हो, अब सावधान होकर जो भगवान कह रहे हैं उसी आदेश, सन्देश, निर्देश के अनुसार ही करो। क्या–क्या पढ़ते आ रहे हो अब जो कुछ भगवान ने कहा है वह भी पढ़ो। यदि भगवान के कहे हुए सन्देश, उपदेश को पढ़ना चाहते हो तो वेदों शास्त्रों का अध्ययन करो।

यदि वेदाध्ययन की योग्यता न हो तो भगवान की गाई गई वाणी गीताशास्त्र के रूप में सुलभ है उसका मनन करो, यदि इसमें भी असमर्थ हो तो वेद शास्त्र गीतोपनिषद के जानने वाले आचार्य के द्वारा श्रवण करो, यदि इतना भी अवकाश न हो तो जो पुस्तक किसी सन्त महात्मा की लिखी हुई मिले, जिसमें धार्मिक विचार हों, भगवान के वचन हों उसका अध्ययन कुछ समय निकाल कर नित्य दस पांच मिनट करते रहो।

पुस्तक अध्ययन के साथ–साथ अपना अध्ययन करो और देखो कि भूल कहाँ चल रही हैं। सुधार कितना हो सका है। यथार्थ जानकारी कहाँ तक हो सकी है और अभी भ्रम कितना शेष है। ज्ञान में कहाँ तक देख सके हैं और अभी तक अज्ञान में क्या ग्रहण किये बैठे हैं।

जहाँ कहीं दुःख का आक्रमण हो, जहाँ कहीं अशान्ति बढ़ जाये, जहाँ भय–चिन्ता तुम्हें बेचैन बना दे वहीं स्वीकार करो कि कहीं अज्ञान है, भ्रम है, भूल हो रही है।

हमें सन्त ने सावधान किया कि दुःख से मुक्त होने के लिये संसार की ओर न भागो ज्ञान में जाग कर अज्ञान से मुक्त हो जाओ। अशान्त होकर बाहर किसी का सहारा न लो प्रत्युत अशान्ति के कारण को, तृष्णा, वासना, कामना की अपूर्ति समझकर, इन्हीं विकारों का त्याग करो। इसी प्रकार मुक्त होने के लिये केवल असंगता पूर्ण कर लो, अपना कुछ न मानो।

हमें समझाया गया कि इसलिये हम अपना कुछ न माने, क्योंकि जिस पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है फिर भी हमें मिला है, उस सर्वस्व का स्वामी अवश्य ही कोई है और वह ऐसा विचित्र परम उदार स्वामी है जो कि दी हुई वस्तुओं का दास नहीं है क्योंकि उसे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है; इसीलिये वह पूर्ण स्वामी हैं।

पूर्ण स्वामी वही है जो परम स्वतन्त्र हो। परम स्वतन्त्र वही है जो किसी और की अर्थात् 'पर' की इच्छा न रखता हो। अपने से भिन्न की, अथवा जो अपना नहीं है उसकी कामना रखने वाला ही परतन्त्र होता है।

हम इतने मूर्ख हैं कि अपने से भिन्न देह, इन्द्रियाँ तथा अन्यान्य वस्तुओं का आश्रय लेते हुए भी अपने को परतन्त्र न जानकर स्वतन्त्र ही मानते हैं।

जब तक हम तन के मालिक, धन के मालिक, परिवार में, पुत्र, पत्नी, बन्धु आदि जनों के मालिक बने हुए हैं, इन्हें अपने सुख के लिए अपना मान रहे हैं तब तक हम इन सभी वस्तुओं, व्यक्तियों के दास ही हैं। सारा संसार हमारी तरह दासता से जकड़ा हुआ है परन्तु मूढ़ता के कारण दासता का ज्ञान नहीं है जिस किसी की मूढ़ता नष्ट होती है वही दासता की बेड़ी से छूट पाता है।

लाखों बार जन्म लेते और मृत्यु का दुःख भोगते हुए, हजारों बार मनुष्य शरीर धारण करते और छोड़ते हुए, किसी जन्म में अगणित वाक्य सुनते–सुनते कभी यह भी सुनाई देता

है कि सबकी सुनते–सुनते अब सावधान होकर भगवान की भी सुनो, भगवान की भी मानो।

परम गुरु भगवान की भी सुनो–यह वाक्य करोड़ों मनुष्यों को सुनने का अवसर नहीं मिलता।

बड़े पुण्य से, सुयोग से अथवा भगवान की ही कृपा से जब भगवान की सुनने समझने वाले सज्जन साधु सन्त मिलते हैं वही किसी अधिकारी पर करुणा, दया करके सावधान करते हैं कि यदि दुःखों का अन्त करना चाहते हो, अशान्ति से, भय से, बन्धनों से मुक्त होना चाहते हो तो परम गुरु भगवान की सुनो।

हर एक प्राणी, प्रत्येक मनुष्य जन्म लेने के बाद ही जो कोई भी निकट होता है उसी की सुनता है, मानता है, वैसा ही करता है और करने का फल भोगता है परन्तु भगवान के विषय में सुनने का अवसर कभी, किसी के द्वारा सुलभ होता है।

कदाचित् भगवान के विषय में सुनने वाले भी बहुत जन मिलते हैं और अवसर पाकर वे लोग भगवान को ही अपनी सुनाते रहते हैं परन्तु भगवान के उपदेश, आदेश, निर्देश कोई विरले ही सुनते हैं।

गीता के निर्देश आदेश उपदेश

गीता भगवान के मुखारविन्द से प्रगट हुआ, गाया हुआ महान गीत है। इसीलिये इसका महत्व विशेष है। गीता अपूर्व ब्रह्म विद्या है। गीता सर्व उपनिषदों का सार है जो कि भगवान ने निकाला है। गीता सत् परमात्मा के योग का अनुभव कराने वाला उपनिषद है। गीता योगशास्त्र है। गीता में अठारह योगों का विवरण है। गीता पूर्णपुरुष नारायण और नर का सम्वाद है।

गीता का आशय, आत्मार्थी को आत्मदर्शन का उपाय दिखाना है। जिसमें आत्मदर्शन की दृष्टि नहीं खुली है वही अन्धा है। जो अन्धा है वही धृतराष्ट्र के समान है। जो दूसरे के अधिकार गत राष्ट्र को अथवा सम्पत्ति को छीन ले, हड़प कर बैठे उसी को धृतराष्ट्र कहते हैं।

अन्धा वही है जो पकड़ना जानता है पकड़े हुए को देख नहीं पाता। जो सुनता है, वही मानता है।

अन्धे के जो अनुयायी होते हैं वह भी अन्धे ही माने जाते हैं क्योंकि आंखों में पट्टी बांधकर जीते हैं।

प्रायः हम सभी मनुष्य नेत्रों से देखने को ही दर्शन होना मानते हैं, परन्तु भगवान के उपदेश पर विचार करने पर ज्ञात हुआ कि नेत्रों द्वारा रूप का ग्रहण होता है; दर्शन कराने वाली दृष्टि तो अन्तर में है। जब तक वह दृष्टि नहीं खुलती तब तक हम दोनों नेत्रों से रूप का ग्रहण करते हुए दर्शन के लिये अन्धे ही हैं।

बाहर के नेत्र तो पशु पक्षी आदि छोटे–छोटे जन्तुओं के भी खुले हैं और मनुष्य की अपेक्षा गीध आदि पक्षी अधिक दूर तक देख लेते हैं। बाहर नेत्रों से दिन में ही नहीं, रात्रि में भी देखने की शक्ति उन जन्तुओं को मिली है, हम मनुष्य होकर दो–दो आंखों के होते हुए

जो कुछ देखना चाहिये, जो परम दर्शनीय है उसके लिये तब तक अन्धे ही बने रहते हैं जब तक अन्तर के ज्ञान चक्षु नहीं खुलते।

भगवान ने तो उसे विमूढ़ कहा है, जिसके ज्ञान चक्षु बन्द हैं; उसे दर्शन हो ही नहीं सकते।

जो दर्शन नहीं कर पाते वह अन्धे हैं, अन्धे पकड़ना जानते हैं, पकड़े हुए को देख नहीं पाते, इसीलिये अन्धों को जो पकड़ाया जाता है और जो कुछ नाम रूप बताया सुनाया जाता है वही मान लेते हैं, उसे ही दुहराते रहते हैं; वही अन्धों का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान का अभिमान होता है; इसीलिये कोई ज्ञान दृष्टि वाला महात्मा जब उनकी मान्यता के विरुद्ध कुछ कहता है; उनके ज्ञान को अज्ञान सिद्ध करता है तब मोहवश उसकी बात नहीं मानते प्रत्युत अनेकों अन्धे मिलकर ऐसे सत्यदर्शी महात्मा के वचनों का विरोध करते हैं।

जिस उलूक की दृष्टि, प्रकाश में नहीं खुलती ऐसे उल्लू के सामने सहस्रों हंस प्रकाश को सिद्ध करना चाहें तो सफल न हो सकेंगे। और उल्लू तो सहस्रों मिल सकते हैं पर हंस सहस्रों की संख्या में कभी एकत्रित मिल भी नहीं सकते।

जो अन्धा अपने ग्रहण में ही सुख मान रहा है वह तब तक दर्शन की बात नहीं मानता जब तक उसकी ग्रहीत वस्तु छिन नहीं जाती। ग्रहण की हुई वस्तु, व्यक्ति के वियोग से दुःखी होने पर ही कभी हितकारी द्रष्टा की चर्चा सुनता समझता है और तभी अन्तर दृष्टि खोलने की साधना को स्वीकार करता है।

जो मनुष्य अपने पाशव बल द्वारा किसी का धन या किसी की भूमि, या कोई भी वस्तु छीनता है वह ज्ञान दृष्टि द्वारा परिणाम न देख सकने के कारण अन्धा ही होता है।

जो कामी हैं, क्रोधी या लोभी हैं, मोही या अभिमानी हैं, वह तब तक अन्धे ही हैं जब तक ज्ञान दृष्टि से सबका अन्त विनाश देखकर त्यागी, दानी, प्रेमी नहीं हो जाते।

मनुष्य का बाहरी नेत्रों से अन्धा होना इतना दुःखद भयानक नहीं है, जितना मानसिक अथवा बौद्धिक और आत्मिक अन्धत्व भयानक, पापप्रद, घोर बन्धन प्रद, अति दुःखद होता है।

आत्मिक दृष्टि, दिव्य दृष्टि, बुद्धि दृष्टि न खुलने के कारण स्वयं अपने को महान कष्ट, मिलते ही हैं, साथ ही उन्हें भी भयानक कष्ट, दुःख भोगने पड़ते हैं जो अन्धे के अनुयायी बनते हैं।

जब तक ज्ञान चक्षु नहीं खुलते तब तक हम न प्रकृति के परिवर्तनशील दृश्य को देख पाते हैं, न पुरुष को समझ पाते हैं, न पुरुषोत्तम का दर्शन कर पाते हैं :

सन्त का भी निर्णय है :

उघरहि विमल विलोचन हिय के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।

भगवान ने कहा हैः उत्क्रामन्तं–स्थितं वापि भुज्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।। (गीता15/10)

विषाद–योग

गीताशास्त्र में प्रथम अध्याय का नाम विषाद योग है। पुण्यवान पुरुष के लिये विषाद भी योग का साधन हो जाता है। पापी मनुष्य विषाद युक्त होकर घोर दुःख भोग करता है। अज्ञान वश पुण्यवान पुरुष, विषाद, खेद से अति खिन्न उदास होता है, किन्तु पुण्य योग द्वारा जब उसे ज्ञान से पूर्ण पुरुष, सन्त महात्मा मिल जाते हैं तब वह विषाद ही योग का द्वार बन जाता हैं।

जब तक मनुष्य अज्ञान वश मोही, लोभी, अभिमानी, मूढ़ बना रहता है तब तक साक्षात् आनन्दमय योगेश्वर भगवान को सामने देखते हुए, दर्शन करते हुए साथ रहते हुए, महान पुण्यवान अर्जुन की भाँति, प्रतिकूल परिस्थिति में अशान्त हो सकता है, विषाद (खेद) से ग्रस्त हो सकता है।

कोई कितना ही शक्ति, सम्पत्ति, बुद्धि, विद्या सम्पन्न हो, जब वह खेद से, विषाद से ग्रस्त होता है तब शरीर शक्तिहीन सा हो जाता है, निर्बलता बढ़ जाती है, रक्त दूषित हो जाता है, शरीर तेजहीन, ओज से रहित म्लान हो जाता है। विषाद ग्रस्त मनुष्य का मुख पीला हो जाता है, सूख जाता है, अंगों में शिथिलता आ जाती है, पाचन शक्ति मन्द पड़ जाती है, पुरुषत्व हीनता आ जाती है; त्वचा की चिकनाहट नष्ट हो जाती है, मस्तिष्क में विचार शक्ति नहीं रह जाती; इस प्रकार विषाद अर्थात् मोह का बहुत ही अनिष्टकारी परिणाम होता है।

परिणामदर्शी विद्वान, साधक को विषाद, मोह से बहुत ही बचते रहना चाहिये और कदाचित अज्ञान के कारण विषाद, मोह से बुद्धि कर्तव्य विमूढ़ हो जाये तो तत्काल अर्जुन की भाँति समर्थ ज्ञान सिन्धु परमगुरु भगवान नारायण की शरण होकर अज्ञान जनित मोह, विषाद, खेद की निवृत्ति के लिये उन्हीं के उपदेश, आदेश ग्रहण करने का दृढ़ संकल्प लेना चाहिए।

आज भगवान नारायण योगेश्वर नेत्र के सामने तो प्रकट नहीं हैं पर हृदय में तो प्रतिष्ठित हैं ही, और उनके उपदेश, आदेश, निर्देश, गीताशास्त्र में है ही, उन्हीं को किसी विरक्त, विवेकी, ज्ञान में जाग्रत सन्त महापुरुष के द्वारा श्रद्धायुक्त होकर श्रवण करना चाहिये। हम सब साधकों के लिये गीताशास्त्र अज्ञान विनाशक, ज्ञान प्रकाशक गुरु है।

साधक को बहुत कुछ पढ़ने, सुनने, समझने के पश्चात् अन्त में परमगुरु भगवान की ही सुनना है, मानना है, समझना है।

पापीजनों के हृदय में प्रायः पापों के कारण साधु सन्त भगवान के प्रति श्रद्धा ही नहीं होती। श्रद्धा भी एक दैवी गुण है जो कि पुण्यवान पुरुषों में ही जाग्रत होती है। जो पाप से ग्रसित हैं वे साधुसन्त महात्मा एवं ईश्वर के निन्दक, विरोधी होते हैं, उन्हें सत्संग, भजन, उपदेश, सत्कथा, कीर्तन आदि भाते ही नहीं, इसलिये पापी जन इस दिशा में आते ही नहीं।

पापी मनुष्य अपने पाप कर्मों का भोग करते हुए दुखी होता है, किन्तु पुण्यवान पुरुष अपने पुण्यों का सुख भोगते हुए ईश्वरीय विधान से आने वाली प्रतिकूलताओं से अथवा प्रतिकूल परिस्थिति से अज्ञानवश विषाद ग्रस्त होता है और ज्ञानी की शरण में समाधान चाहता है।

जो अज्ञान के कारण अशान्त, दुःखी, खेदित होता है उसी को सदुपदेश से ज्ञान द्वारा शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति तथा अशान्ति, दुःख, खेद की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु जो पापी जन हैं उनका दुःख, कष्ट तो भोगने पर ही कटता है, फिर भी यदि कोई पाप ग्रस्त मनुष्य सन्तसंग के प्रभाव से भगवान के ज्ञान का आश्रय लेकर भजन में लग जाये तो वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है।

जो पापी है वह पाप कर्मों के फल से आने वाली प्रतिकूलता के दुःख का भोगी होता है। जो पुण्यवान पुरुष है वह प्रतिकूल परिस्थिति वश आने वाली प्रतिकूलता के विषाद अथवा खेद का भोगी बनकर आनन्द योग का द्वार पा जाता है।

पुण्यवान पुरुष के लिये वह दुःख बहुत शुभ है, वह दुःख भगवद् कृपा का परिचय दे रहा है, जिसके द्वारा सांसारिक सुखोपभोग से विरक्त होकर परमात्मा का नित्य योग सुलभ होता है।

पाण्डव अर्जुन महान पुण्यवान थे, उनके जीवन में आने वाला विषाद (दुःख खेद) केवल अज्ञान के कारण था इसीलिये वे दुःख दिशा में सुख के कामी नहीं थे, प्रत्युत दुःख की, शोक की अथवा खेद की निवृत्ति चाहते थे; शान्ति चाहते थे; इसीलिये सर्व समर्थ परम गुरु भगवान की शरण में उपस्थित होकर सदुपदेश देने का आग्रह किया था।

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (गीता 2/7)

'मैं आप का शिष्य हूं आप की शरण में हूं मुझे शिक्षा दीजिये।'

श्रद्धा की महिमा

श्रद्धावान ही ज्ञान योग की पूर्णता प्राप्त करता है।

जगत में भोगी सभी प्राणी होते हैं पर योगी कोई विरले ही हो पाते हैं। परमगुरु भगवान का ही यह निर्णय है कि नौ सौ निन्यानवे मनुष्यों में कोई एक योगी होने का संकल्प करता है, ध्यान देता है, और उनमें से लाखों करोड़ों में कोई विरला ही अन्तिम सिद्धि तक प्रयत्न करता है। प्रायः मनुष्य अज्ञानवश उल्टे मार्ग में चल रहे हैं।

अनेकों सन्त महात्मा परमगुरु भगवान का सन्देश, आदेश, उपदेश सुनाते हैं। अब भी वेद विद्यमान हैं, भगवान के वचन गीता के रूप में सभी को सुलभ हो सकते हैं परन्तु सुनने वाले नहीं मिलते, 999 मनुष्य सत्य के, धर्म के भगवान के वचनों के विपरीत चल रहे हैं। कोई एक सत् चर्चा तथा ज्ञानचर्चा सुनने का संकल्प करता है और उसके अनुसार आचरण करने वाला तो और भी दुर्लभ है।

भगवान के ज्ञान विज्ञान अथवा योग को कोई श्रद्धावान ही सुनता है, समझता है और प्राप्त करता है। श्रद्धा भी तीन प्रकार की कही गई है, सात्विक, राजस, तामस।

जो कुछ सर्वोपरि श्रेय है उसे प्राप्त करने के लिये किसी सन्त महात्मा में मन की सुदृढ़ निष्ठा, विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। विद्वान जन मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति को श्रद्धा

कहते हैं। अति प्रयत्न करने पर भी जो न बदले—वही श्रद्धा है। मनुष्य सदा श्रद्धा के अधीन होता है। अपनी श्रद्धानुसार मनुष्य अपने को व्यक्त करता है।

सात्विक श्रद्धालु देवों की पूजा करते हैं। रजोगुणी श्रद्धालु यक्ष, राक्षसों को पूजते हैं। तमोगुणी श्रद्धालु भूत, प्रेत, पिशाचों की आराधना करते हैं। मनुष्य त्रिगुण प्रकृति के अनुरूप ही अपने द्वारा कृति करता है। अहंकृति में विकृति होती है। सात्विक श्रद्धा द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर संस्कृति सिद्ध होती है।

भगवान ने ज्ञान प्राप्ति के उपाय बताये हैं :—

ईश्वर में, गुरु के कल्याणकारी वचनों में, वेदशास्त्र आदि धर्म ग्रन्थों में श्रद्धा हो। सेवा कार्य में, अनुष्ठान में, कर्तव्य पालन में, परम प्रभु के स्मरण, चिन्तन, ध्यान में सदा तत्परता हो। इन्द्रियों को स्वाधीन रखने में प्रमाद न हो दृढ़ संयम हो।

ऐसा श्रद्धालु योगाभ्यास द्वारा सम्यक सिद्धि प्राप्त करता है। आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में अनुभव करना ही श्रद्धावान के लिये ज्ञान लाभ है। भगवान के मतानुसार ऐसा आत्मज्ञान, श्रद्धा, तत्परता, संयम और समबुद्धि द्वारा ही होता है।

जो ज्ञान पुस्तकों के अध्ययन से होता है उस ज्ञान से अहंकार तो सबल होता है किन्तु मोक्ष नहीं मिलता। श्रद्धालु को जो स्वयं के द्वारा ही आत्मा परमात्मा की अभिन्नता, व्यापकता का ज्ञान होता है उसी से मोहादि बन्धनों से मुक्ति मिलती है।

जो श्रद्धावान नहीं है उसी का मन अश्रद्धालु दोषदर्शी होता है। जो साधना में, सेवा में तत्पर नहीं है वही चंचल रहता है। जो इन्द्रियों के साथ संयमी नहीं है वही भोगासक्त होता है। जो योग में सिद्धि प्राप्ति नहीं करता उसी की बुद्धि अस्थिर होती है।

श्रद्धावान का अन्तःकरण पवित्र होता है, अश्रद्धालु का अपवित्र, दोषयुक्त रहता है।

श्रद्धावान गुरुज्ञान प्राप्त करता है, अश्रद्धालु विनाशी वस्तुओं के ज्ञान का अभिमानी होता है।

श्रद्धावान अविनाशी पद को प्राप्त होता है, अश्रद्धालु विनाशी की सीमा में भटकता है।

श्रद्धालु सुख शान्ति से तृप्त होता है। अश्रद्धालु सुख के अन्त में दुःख से अशान्त रहता है।

श्रद्धावान पापों से मुक्ति पा जाता है। अश्रद्धालु अहंकार वश अनेकों पाप बढ़ाता है।

श्रद्धा से भजन करने वाले जन परमात्मा से युक्त रहते हैं। अश्रद्धालु परमात्मा से वियुक्त रहते हैं।

श्रद्धालु भक्त भगवान को प्रिय होते हैं अश्रद्धालु अभिमानी भगवद् प्रीति से वंचित रहते हैं।

श्रद्धालु किसी से वैर द्वेष, घृणा नहीं करते। अश्रद्धालु निन्दा, घृणा, कलह, क्रोध से छूट नहीं पाते।

श्रद्धावान में नम्रता, सरलता, उदारता, प्रसन्नता, सहिष्णुता, निरभिमानता आदि सद्‌गुणों की जाग्रति रहती है। अश्रद्धालु में दैवी गुणों के विपरीत आसुरी वृत्तियाँ प्रबल रहती हैं।

श्रद्धालु तभी ज्ञान योगी होगा जब ज्ञान प्राप्त का संकल्प करेगा। किसी भी हृदय में जब श्रद्धा जागती है तब वह किसी व्यक्ति के सुन्दर रूप के प्रति नहीं, बल के प्रति भी नहीं धन वैभव के प्रति भी नहीं होती; आरम्भ में श्रद्धा परमात्मा के अगाध ज्ञान के प्रति, दिव्य गुणों के प्रति, अलौकिक चमत्कारों के प्रति होती है। जब बुद्धि ज्ञान की थाह नहीं पाती तब उसके प्रति पूज्य भाव, श्रेष्ठभाव दृढ़ होता है, परन्तु श्रद्धालु के मन में यदि धन की कामना है, किसी इच्छापूर्ति की कामना है, तब श्रद्धालु ज्ञान लाभ से वन्चित रहकर बीच में ही अटक जाता है– यही मूढ़ता है।

अनेकों श्रद्धालु किसी सन्त महात्मा से श्रद्धा पूर्वक संबंध जोड़ते हैं, पूज्यभाव रखते हैं परन्तु रूप के मोही, सन्त के रूप दर्शन के मोही सन्तुष्ट तृप्त होते रहते हैं, शरीर की पूजा, आरती, प्रणाम को अपना कर्तव्य समझ बैठते हैं। शब्द, स्पर्श, रूपादि विषय में चन्चल होने वाली इन्द्रियों को संयम में नहीं रख पाते। सन्तगुरु के बाह्य दर्शन संयोग से अति प्रसन्न होते हैं और वियोग से खिन्न होते हैं; यदि कदाचित सन्तगुरु का शरीर छूट गया तो वियोग में मोहवश विलाप करते हुए अत्यन्त शोकित होते हैं।

श्रद्धावान देवियों में मोह की अत्यधिक प्रबलता रहती है।

यह सत्य है कि परिवार का संबंधी हो या बाहर का मित्र हो, अथवा सन्त महात्मा हो– जिस किसी के प्रति अपनत्व भाव से प्रीति श्रद्धा हो जाती है उसके प्रति मन में मोह ममता की ही वृद्धि होती है मोहवश आँखों के द्वारा रूप ही प्रिय होता है, कानों के द्वारा उसके शब्द बहुत ही मधुर लगते हैं उसकी समीपता में बहुत ही सुख प्रतीत होता है परन्तु जब बुद्धियोग होता है तब सत असत का, विनाशी अविनाशी का जड़ चेतन का, अर्थात् आत्मा अनात्मा का, ज्ञान प्राप्त होता है तब जिसके संग से मानव रूप, रस, शब्दादि का भोगी बना होता है उसी के संग से बुद्धियोग द्वारा आत्मा परमात्मा का योगानन्द सुलभ हो जाता है। जो बुद्धियोगी होकर सन्त के प्रति श्रद्धा स्थिर नहीं कर पाते वही श्रद्धालु मन के द्वारा विनाशी नाम रूप के संयोगी, भोगी बने रह जाते हैं; ज्ञानयोग द्वारा आत्मानन्द का अनुभव नहीं कर पाते।

सन्त सद्‌गुरु में मन की आसक्ति होना बहुत ही शुभ है जबकि बुद्धियोग द्वारा ज्ञान स्वरूप में अगाध प्रेम हो जाये।

जो विद्वान या विदुषी नर–नारी किसी सन्त महात्मा में गुरु भाव से श्रद्धा रखते हों वे अपना निरीक्षण करते हुए निर्णय कर लें कि जिस श्रद्धा के द्वारा तत्वज्ञान, आत्मज्ञान, विज्ञान की प्राप्ति होती है वह कहीं बाह्यरूप नाम के मोह में ही तो नहीं ठहर गई है?

नाम रूप के प्रति प्रीति होती है, प्रीति द्वारा सुखास्वाद सुलभ रहता है, परन्तु श्रद्धा का संबंध ज्ञान से होता है और ज्ञान द्वारा शान्ति सुलभ होती है।

जब तक श्रद्धालु सुखासक्त है और वियोग से संबंध विच्छेद से अशान्त, दुखी होता है तब तक उसकी श्रद्धा सात्विक नहीं है। भगवान उसे मूढ़ कहते हैं, अपण्डित कहते हैं। वह पण्डितों की बातें भले ही सुनाता रहे पर वह यथार्थ में पण्डित नहीं है। ज्ञान से विमुख है, धीर नहीं है, चंचल है। विवेकी नहीं है, अविवेकी है। वह केवल मन के द्वारा पकड़ना जानता है, प्रज्ञा द्वारा देखने की स्थिति नहीं प्राप्त कर सका।

उत्तम श्रद्धावान अपने श्रद्धास्पद सन्त गुरुदेव से सतचर्चा सुनता है इसी को लोग सत्संग कहते हैं, सतचर्चा भगवद कथा श्रवण से मोह दूर होता है, मोह दूर होने पर प्रभु में अनुराग होता है। श्रद्धालु मोही रागी बना रहे तो समझना चाहिए कि वह सत्संगी नहीं है। जो साधक ज्ञान में ध्यान से देखते हैं उन्हें दिखता है कि नित्य चेतन स्वरूप आत्मा है, जड़ देह अनात्मा है। आत्मा पुरुष है, देह प्रकृति की बनी है। आत्मा अमर है, देह विनाशी है। आत्मा सत् है, नित्य है। देह असत है अनित्य है। आत्मा अनादि है, देह सादि है। आत्मा अज है, देह जन्म वाली है। आत्मा शाश्वत है, देह अशाश्वत है। आत्मा अव्यय है, देह व्यय होती है, आत्मा अदाह्य है, देह दाह्य है। आत्मा सर्वगत है, देह एकदेशीय है। आत्मा अचल है, देह चल है। आत्मा सनातन है, देह नश्वर है।

भगवान का यह भी निर्णय है कि एक हजार मनुष्यों में नौ सौ निन्यानवे आत्मा के विषय में सुनना ही नहीं चाहते। कोई एक पुरुष आत्म ज्ञान की चर्चा सुनना चाहता है। हजारों सुनने वालों में कोई एक साधना द्वारा आत्मा का अनुभव करना चाहता है।

भगवान के मत में श्रद्धावान सदा तत्पर रहने और इन्द्रियों को वश में रखने के कारण ज्ञान को प्राप्त करता है। जैसी जिसकी तमोगुणी, रजोगुणी, सतोगुणी श्रद्धा होती है वैसा ही फल प्राप्त करता है।

जो सात्विक श्रद्धा से भगवान की सेवा करते हैं भजन करते हैं वही अधिक योग्य हैं। परम श्रद्धावाले भक्त भगवान को प्रिय होते हैं। श्रद्धावान निर्वैर भाव धारण करने वाले धर्म बन्धन से छूट जाते हैं। जिसमें श्रद्धा नहीं होती उसका चित्त अस्थिर होता है संशययुक्त रहता है। श्रद्धाहीन अपने संशय से ही नष्ट हो जाता है।

भगवान के वचनों में उसी की श्रद्धा होती है जो धर्मात्मा है; धर्मात्मा ही महात्मा होता है। परमात्मा सर्वत्र; सर्वदा सुलभ है परन्तु महात्मा का मिलना दुर्लभ है।

यह बहुत ही शुभ सुन्दर सन्देश है कि महात्मा का मिलना भले ही दुर्लभ हो पर परमात्मा का मिलना अति सुलभ है और जो परमात्मा को सुलभ अनुभव कर लेता है वह स्वयं ही महात्मा हो जाता है। स्वयं महात्मा होने के लिये पराश्रय नहीं, सत्याश्रय लेना है।

हमें दुर्लभ महात्मा की खोज में नहीं भटकना चाहिये सुलभ परमात्मा को ही देखना चाहिये। भगवान ने उस सुलभ परमात्मा को देखने के लिये किसी तीर्थ में, मन्दिर में जाने की सम्मति नहीं दी प्रत्युत स्थिर होकर शान्त होकर अपने में ही आत्मा के स्वरूप में अनुभूति की मन्त्रणा दी है।

आत्मा का निर्णय

परमगुरु भगवान नारायण का निर्णय है :–

जो सर्व भूतों में स्थित भजने योग्य है वही आत्मा है। जो सर्व भूतों के आदि में मध्य में अन्त में आश्रय है वही आत्मा है। जो वैश्वाश्वर रूप में सभी प्राणियों की देह में रहता है वह आत्मा है। जो सनातन नित्य सर्वगत, सर्व उरवासी, अविनाशी, चेतन ज्ञान स्वरूप है वही आत्मा है।

जो सूक्ष्माति सूक्ष्म आत्मा प्राणी के हृदय में है और जो समस्त विश्व के शरीरों में है उस महान आत्मा को ही जानता है वही बुद्धिमान विद्वान शोक से रहित होता है। जो आत्मा को नहीं जानता वही मोह से विमूढ़ है।

सब प्राणियों की आत्मा एक है, वही (सर्वगत) विभु है, नाशवान शरीरों से भिन्न है, तीनों कालों में अविनाशी है यह सांख्य तत्व ज्ञान का सिद्धान्त है।

जो–जो उत्पन्न होता है उसे ही भूत कहते हैं। जो उत्पन्न होता है उसी का नाश होता है। जो उत्पन्न नहीं होता उसका नाश भी नहीं होता। जो उत्पत्ति विनाश का आश्रय है वही परमात्मा है। जो प्रत्येक के भीतर है वह सच्चिदानन्द परमात्मा है।

जहाँ केवल चैतन्य है, सत्ता है परन्तु 'मैं' नहीं है वहीं परमात्मा है। यह परमात्मा सभी के हृदयों में रहता है। (भ0 15–14–15) यही सभी प्राणियों का आत्मा है, भूतों के आदि के मध्य में अन्त में यही है। (10 ।20) समस्त प्राणियों में चेतना इसी परमात्मा की है (10 ।22)

भगवान के वचनों से यह निर्णय हो गया कि परमेश्वर सब भूतों का आत्मा ही है वह सबका आदि, मध्य, अन्त है, सब भूतों का बीज भी वही है। ऐसी कोई वस्तु विश्व में नहीं है जो परमेश्वर से भिन्न हो, रहित हो। हम साधकों के लिये बहुत ही विलक्षण, महत्वपूर्ण सूचना यही है कि परमात्मा को अति सुगम निकट दर्शन करना हो तो अपने आप में आत्मा के रूप में परमात्मा को देखें और जब भीतर से बाहर दिखने वाले जगदाकार में जहाँ कहीं कुछ भी सुन्दर, आकर्षक, प्रभावशाली दिखाई दे वहीं उस परमात्मा की विभूति अनुभव करते हुए प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के सौंदर्य, माधुर्य एवं ऐश्वर्य के रूप में परमात्मा का ही अनुभव करते रहें।

छान्दो0 उपनिषद् में बताया हैः– आत्मा ऊपर, नीचे, पीछे, आगे, दायें तथा बायें ओर वही है। आत्मा ही यह सब है जो ऐसा देखता है ऐसा मानता है और ऐसा ही अनुभव करता है वही (आत्म रति) आत्मा में रमने वाला, आत्मा के साथ क्रीड़ा करने वाला आत्मा से सुख प्राप्त करने वाला है। यह आत्मा ही सब भूतों को प्रकाशित करता है।

> यह आत्मा मनोमय, प्राणमय, शरीर वाला है यह सर्व प्रकाशक स्वरूप है जिसके सभी संकल्प सत्य होते हैं, ऐसा यह आकाशवत आत्मा है (यह चिदाकाश है) इसमें ही भूताकाश है, चित्ताकाश है, कर्म शक्ति से युक्त, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्व रसों से परिपूर्ण है, यह आत्मा मेरे हृदय में है, यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक से भी

बड़ा है सब लोकों से बड़ा यह ब्रह्म है। आत्मा में जगत उत्पन्न होता है और लय होता है। आत्मा के योग के लिये सभी शास्त्र सम्मति देते हैं।

आत्मा में विशाल शक्ति के अनुभव से सन्तुष्टि होती है। जब अहंकार विनाशी देहाभिमान त्याग कर आत्मा से युक्त हो जाता है तब सभी आनन्द आत्मा में प्राप्त होते हैं।

हम साधक जन, देह से संबंधित संकल्प करते आये हैं किन्तु अब आत्मा परमात्मा के योगानुभव का संकल्प करना आवश्यक है। अभी या कभी करना ही होगा।

आत्मा परमात्मा के योग की सिद्धि के लिये जो आत्मा नहीं है उस जड़ के साथ तद्रूपता के अभ्यास को, मैं नित्य चेतन हूं इसे बार बार मनन करना रूपी अभ्यास बढ़ाना आवश्यक है।

जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति करता है अर्थात् रमता है, आत्मा से ही तृप्त होता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसे फिर कुछ करना शेष नहीं रहता (गीता 3।17)।

जब तक मनुष्य देह को मन को 'मैं' मेरा मानता है तब तक इसे बाह्य वस्तुओं में ही प्रीति, तृप्ति, सन्तुष्टि होती है, तब तक बाह्य साधनों की अपेक्षा रहती है और उनकी प्राप्ति के लिये तथा प्राप्त होने पर उनकी रक्षा के लिये सब कुछ करना पड़ता है।

मनुष्य का अहंकार सब कुछ पाते हुए भी कभी तृप्त, सन्तुष्ट, शान्त नहीं हो पाता किन्तु अशान्त होते—होते दुःखों से तपते—तपते इस अहंकार का जब ज्ञान होता है और इस अहंकार बिन्दु का परमाश्रय आत्मा सिन्धु का परिचय मिलता है तब आत्मा के प्रति प्रीति मुड़ती है, आत्मा में ही रति होती है तब जो अपने को देहमय प्राणमय मनोमय मानता था वही नर, नारायणमय, वही पुरुषोत्तममय, होने की साधना में तत्पर हो जाता है, अपना जीवन यज्ञमय बनाता है। जो अघ में, पाप में जीवन नष्ट करता था, वही पुण्यमय जीवन व्यतीत करता है, देह इन्द्रियों का भोगी था वही देह से अपने को भिन्न अनुभव करते हुए इन्द्रियों का संयमी होता है और अपने तुच्छ सुखोपभोग का लोभ त्याग कर सभी प्राणियों के हित में अपनी आहुति देता है।

आत्मा परमात्मा का योगानुभव जब तक नहीं होता तब तक (1) मनुष्य सकाम ही रहता है अकाम नहीं हो पाता। (2) कर्म फल का त्याग या दान नहीं कर पाता। (3) कामोपभोग से तृप्त नहीं हो पाता। (4) विषय लोलुपता का त्याग नहीं कर पाता। संयमी नहीं हो पाता। (5) सदा असन्तुष्ट ही रहता है, आत्मतुष्ट नहीं हो पाता। (6) मृत्यु से भयातुर हो जाता है, अमरता को प्राप्त नहीं कर पाता। (7) धैर्यहीन भीरु बना रहता है धीर नहीं हो पाता। (8) शोक के आक्रमण से घिर जाता है, शोक रहित नहीं हो पाता। (9) दुःख में अशान्त रहता है, शान्त समस्थिर नहीं हो पाता। (10) सुख का लोभी बना रहता है, निःस्पृह नहीं हो पाता। (11) क्रोध से पराजित होता है, क्योंकि पूर्ण प्रेम का अधिकारी नहीं हो पाता। (12) आसक्त बना रहता है, विरक्त नहीं हो पाता।

जिसके मन में जगत की कोई कामना नहीं होती वही आत्मा में सन्तुष्ट होता है। जो आसक्ति छोड़कर सभी के हित का ध्यान रख कर सब कर्म करता है वही आत्मानुभव का

अधिकारी होता है। कर्म का फल संसार से मिलता है। जो फल का त्याग करता है उसका सम्बन्ध संसार से न रहकर संसार के स्वामी से हो जाता है।

जब हम कुछ नहीं करते पूर्ण शान्त हो जाते हैं तब बिना कुछ किये ही उसका बोध होता है जो हममें है, वही आत्मा है। अन्तःकरण अथवा चित्त अगणित है पर उनके पीछे चेतन एक ही है। साधना के द्वारा उसे ही अनुभव करो।

साधना की पूर्णता तभी होती है जब चित्त शान्त होता है, विकार रहित होता है और विचार रहित होता है तभी परमात्मा का अनुभव होता है। मनबुद्धि को साधकर स्वयं में उतरते ही आत्मा का अनुभव होता है।

जब स्वयं में आत्मा का अनुभव होता है तभी सर्व में परमात्मा का अनुभव सरल हो जाता है।

साधना की सिद्धि में सब में परमात्मा को देखना ही प्रेम की पूर्णता है। अहं के भीतर परमात्मा को प्रतिष्ठित देखना ही दर्शन है।

स्वयं में ही बुद्धि को स्थिर करना ही उस द्वार पर ठहरना है जहाँ प्रभु के दर्शन होते हैं। जहाँ अहंकार विद्यमान है। वहाँ दर्शन नहीं होता।

जो नित्य निरन्तर बाहर भीतर एक समान है उसमें बुद्धि स्थिर करने अथवा उसी के प्रति जाग्रत रहने से मन एवं अहंकार नहीं रह जाता है तभी पूर्ण योग है। कर्ता बनने में भोग अकर्ता होकर देखने में योग स्वतः हो जाता है।

भगवान के आदेशानुसार जो साधना साधकर विकार रहित संग रहित होकर शान्त, स्वस्थ हो चुके हैं; उन्हीं के उद्‌गार हैं :–

स्वयं की आत्यन्तिक सत्ता ब्रह्म है। हमारा स्वरूप परमात्मा है। हमारी चेतना शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है। अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, प्रज्ञानमानन्द ब्रह्म, सत्यंज्ञान अनन्तं ब्रह्म।

हम साधकों को सावधान रहकर देखते रहना होगा कि साधना का अहंकार अन्तिम अहंकार है। सुना है कि पवित्र अहंकार भी पवित्र विष की भाँति है जिसमें कुछ मिलावट न हो। अहंकार का अभाव ही ब्रह्म का सद्‌भाव है।

'मैं हूं'– ऐसा समझने को तत्ववेत्ता जन अज्ञान कहते हैं। जड़ वस्तु से बन्धित यह 'मैं' कठोर अहंकार के रूप में हिंसक होता है, परमात्मा से संबंधित अहंकार पिघल जाता है। प्रेम मय हो जाता है।

भोगी अहंकार अपने लिये है। परमात्मा का योगी, अभिमान शून्य होकर सबके लिये है। परमात्मा निरन्तर है परन्तु अहंस्फुरण से वह ढका है।

यदि साधक हो, साधना में तत्पर हो तो परमात्मा के अतिरिक्त बीच में कहीं न रुको।

अभ्यास योग की साधना

अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।। (गी0 5।8)

अभ्यास योग के द्वारा स्थिर हुए चित्त से (ईश्वर का) स्मरण करने से साधक दिव्य परम पुरुष को पा लेता है।

कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, तथा मन एवं बुद्धि द्वारा जो कुछ बोलना, देखना, सुनना, करना, मानना, विचारना अध्ययन करना, स्मरण करना तथा चिन्तन ध्यान आदि अति सहज हो गया है वह हमारे अभ्यास का ही परिणाम है।

किसी का स्मरण, चिन्तन, ध्यान हम सबके मन में सहज रूप में होता ही रहता है परन्तु परमात्मा के स्मरण, चिन्तन ध्यान में मन लगाना, बुद्धि स्थिर करना बहुत कठिन लगता है। सांसारिक नाम रूपों में जहाँ आसक्ति हो गई है वहाँ से ध्यान हटाने पर भी नहीं हटता और भगवान में ध्यान लगाने पर भी नहीं लगता, इसका एक मात्र कारण यही है कि जिसे बार बार दुहराया है उसका अभ्यास हो गया। अब यदि हम साधक जन बार बार ईश्वर के नाम जप का अभ्यास बढ़ा लें तो जप का अभ्यास हो जायेगा इसी प्रकार बार–बार मन से भगवान का स्मरण करते रहें, स्मरण भूल न जायें इसके लिये रह–रहकर सजग रहें तो स्मरण का अभ्यास हो जायेगा।

निरर्थक शक्ति के प्रवाह को साध लेने पर ही सार्थक की सिद्धि हो सकती है।

हम अनेकों साधक प्रातः सायंकाल कुछ निश्चित संख्या में नित्य जप का नियम बना लेते हैं, उतनी देर जप करने का अभ्यास हो जाता है शेष समय में कार्य चर्चा तथा विनाशी नामों रूपों का स्मरण स्वतः चलता रहता है। यदि यह भूल समझ में आ रही है तो हम सभी नाम जप के प्रेमियों को अवकाश मिलते ही नाम जप या स्मरण करते रहने का अभ्यास बढ़ाना अत्यावश्यक है।

जितनी देर बोलना हो या सुनना हो अथवा लिखना या पढ़ना हो उतनी देर जप स्मरण छूटा रहना उचित है; लेकिन जब व्यर्थ ही पर चर्चा चलती हो या कोई कार्य नहीं कर रहे हों, कुछ लिखते, पढ़ते नहीं हों तब जप स्मरण होते ही रहना चाहिये।

भगवान ने निर्णय किया है कि अन्य से मन, चित्त हटाकर निरन्तर, नित्य स्मरण करने वाले को मैं सदा ही सुलभ हूं। जो सतत नित्य स्मरण का अभ्यासी है वह नित्य युक्त (मिला हुआ) है, वह योगी है। जिस प्रकार इन्द्रियों से, मद से, विषय सेवन करते करते भोगाभ्यास हो गया है उसी भाँति भगवान के स्मरण, चिन्तन, ध्यान को दुहराते रहने से लगे रहने से योगाभ्यास सहज हो जायेगा। अभ्यास से अभ्यास की गति बदल जाती है।

भोगाभ्यास को संयम के अभ्यास से बदलना होता है। जहाँ पर मेरा घर, मेरा परिवार, मेरी सम्पत्ति, मेरा अधिकार मानने का अभ्यास दृढ़ हो गया है वहीं पर यह देह मैं नहीं हूं जो कुछ देह संबंधित वस्तुएं हैं, या व्यक्ति हैं वे कोई मेरे नहीं हैं; मेरी अपनी अन्तरात्मा का परमात्मा ही अपना है, वही हम में है इसी को बार–बार दुहराते रहने से, इस अभ्यास के द्वारा परमात्मा से नित्य योग सुलभ रहेगा। न कहीं से आना होगा, न कहीं जाना होगा, जहाँ

का तहाँ निरन्तर प्रभु को पाना ही पाना शेष रहेगा। केवल मन को, बुद्धि को, चित्त को साध लेने से ही योग होता है।

अभ्यास योग की सिद्धि के लिये परमात्मा ही एक मात्र सर्वस्व है और मन बुद्धि आदि उसी का सब कुछ है इस समर्पण भावना को बार–बार, साध–साध कर अटल बना लेना होगा।

जब परमात्मा ही सर्वस्व सब कुछ का दाता सर्व का स्वामी है तब समर्पण के लिये अपने पास कुछ दिखता ही नहीं है तब समर्पण करना नहीं है अपितु समर्पित देखना है। यह अभ्यास सन्ध्या प्रातः दुहराने मात्र से पूर्ण नहीं होता, इसे तो सतत दुहराते रहना होगा।

सतत अभ्यास तभी चलेगा जब परमात्मा से अपनी पूर्ण प्रीति हो, उनके अतिरिक्त और कोई कामना न हो। बिखरी हुई प्रीति को साधकर आत्मा में स्थिर करना, सरल साधना है।

यह आत्मा न तो कभी जन्म लेती है न मरती है, इसका कभी अभाव नहीं होता है, यह अजन्मा नित्य शाश्वत पुरातन है शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। यह शरीर को एक वस्त्र की भाँति धारण करती और छोड़ती है (गीता 2।20)।

शरीर रूपी वस्त्र को धारण करने और उतारने में उन्हीं को कष्ट होता है जो बालक के समान अज्ञानी है। ज्ञानी सयाने पुरुष के समान हैं जो वस्त्र को धारण करते और उतारते समय कष्टित नहीं होते। आत्म–अज्ञानी बालक के समान दोनों दशा में विलाप करता है। हम साधकों को भगवान के इस आत्म ज्ञान संबंधी उपदेश का बार–बार मनन करना चाहिये। बैठते–उठते चलते हुए असंग आत्मा का अनुभव इस देह के द्रष्टा होकर करना चाहिये।

जहाँ–जहाँ कर्तापने का अभ्यास है वहीं द्रष्टा होने के अभ्यास को दुहराना चाहिये। सबसे अधिक कठिनता यह होती है कि प्रत्येक क्रिया के साथ 'मैं कर्ता नहीं हूं सब कुछ प्रकृति में हो रहा है, ऐसा देखते ही स्मृति नहीं रहती परन्तु सजग रहने से बार–बार द्रष्टा होकर देखने का भी अभ्यास सरल हो सकता है।

विषय वृत्तियों से, व्यर्थ विचारों से मन को साध कर सतत निरन्तर ईश्वर का स्मरण चलता रहे, ध्यान से सब में सर्वत्र उसी की सत्ता को देखने की दृष्टि खुली रहे– यही साधना योग है। भोगी को विषय चिन्तन का अभ्यास होता है योगी भक्त को भगवद स्मरण, चिन्तन का अभ्यास हो जाता है। प्रतिकूल अभ्यास की क्रिया को तत्काल अनुकूल अभ्यास से रोकना होगा।

जब कोई संकट आता है दुःख आता है, तब हर एक व्यक्ति अपने संबंधित पुत्र–पिता, पत्नी–पति का ही स्मरण करता है उन्हीं को पुकारता है उसी प्रकार जो पहले से ही भगवान को ही अपना मान कर उन्हीं का सतत स्मरण, चिन्तन होगा तब अन्य समय में भगवान की ही याद आयेगी, उन्हीं को पुकारने का सहज अभ्यास होगा। जो पहले से भगवान को अपना न मानेगा, उनका स्मरण, चिन्तन नहीं करेगा तब अन्त समय भगवान का स्मरण होना अति कठिन होगा अन्त समय में मन नहीं सधेगा।

जिस प्रकार लोहा अग्नि के संग से अग्निमय हो जाता है उसी भाँति जीव देह के निरन्तर स्मरण, चिन्तन से जड़ देहमय हो गया है, वही जीवात्मा, परमात्मा की एकता, अभिन्नता, सजातीयता के स्मरण अभ्यास से परमात्मा से अभिन्न योगानुभव कर सकता है। कुछ साधक इसीलिये 'सोऽहं'–शिवोऽहं, का जप, स्मरण, चिन्तन करते करते वही हो जाते हैं 'सोऽहं'–शिवोऽहं, के उच्चारण के साथ ही इनके अर्थ में बुद्धि को साधने की आवश्यकता होती है।

सुखासक्ति वश कामना अर्थात् इच्छापूर्ति का अभ्यास केवल, विचारमात्र से नहीं बदलता स्वार्थपूर्ति का अभ्यास अति प्रबल है यह तभी छूटेगा जब परार्थ का दूसरों की निष्काम सेवा करते रहने का दृढ़ संकल्प होगा। सेवा भी तभी सधेगी जब आलस्य का अभ्यास, श्रम के अभ्यास से छूटेगा। आलस्य के कारण अनेकों सेवा के अवसर छूट जाते हैं। तन को साधे बिना सेवा न सधेगी।

सेवाव्रत में इन्द्रियों का असंयम भी बाधक है। चटोरी जबान से असंयमित भोजन करना तन को रोगी बना देता है, बोलने पर अधिकार न होने से अधिक बोलने के अभ्यास से झूठ निन्दा, कठोर वचन, व्यर्थ वचन बोलने में समय नष्ट होता है। शक्ति हीनता आती है और परिणाम भोगना होता है। इसीलिये सेवाव्रत भंग हो जाता है।

इन्द्रियों में, मन में, संयम के अभ्यास के लिये निरन्तर प्रसन्न रहने का अभ्यास, अपने को अकिंचन समझकर अभिमान शून्यता तथा अधिकार हीनता का अभ्यास आवश्यक होता है।

दूसरों को दोषी देखने से तथा अपने में गुण का, त्याग का, तप का, दान का, ज्ञान का अथवा किसी प्रकार की श्रेष्ठता का अभिमान होने से, निन्दा करने का, कठोर बोलने का, दूसरों को अपमानित करने का अभ्यास हो गया है– उसे मिटाना ही सेवा में सफलता पाना है।

सेवा को पूर्ण बनाने के लिये सबके प्रति सदाचार की साधना परमावश्यक है। जो व्यवहार हम दूसरों से अपने प्रति जिस परिस्थिति में चाहते हैं वही व्यवहार हमें दूसरों के साथ करने के लिये सावधान रहना है। दुराचार, व्यभिचार, अनाचार का अभ्यास सेवा को व्यर्थ कर देता है। इसीलिए तन को, वाणी को, मन को सेवा के लिये साधो।

किसी से द्वेष रखने का, ईर्ष्या करने का अभ्यास भी सेवा व्रत में महान बाधक है। ईर्ष्या–द्वेष का अभ्यास, अपने अधिकार के त्याग से और हृदय को प्रीति से भरे रहने से ही छूट पाता है।

अनेकों कर्म हम लोग अविवेक पूर्वक करते रहते हैं वहीं पर विवेक पूर्वक करने का अभ्यास दृढ़ करना परम हितकर है। अविवेक की पुष्टि असत संग से हुई है इसीलिए सदा सत्संग का अभ्यास दृढ़ करना होगा।

सत्संग के अभ्यास के लिए सन्तों के प्रवचन सुनते रहने का अभ्यास नहीं बढ़ाना है प्रत्युत निरन्तर अपने साथ जो सतचेतन आत्मा–परमात्मा विद्यमान है उसी में मन को लगाना बुद्धि को स्थिर करना, साधना सत्संग है।

'मैं देह हूँ, 'यह वस्तु व्यक्ति मेरी है, ऐसा अभ्यास ही असत् संग है। 'मैं आत्मा हूँ, 'परमात्मा में हूँ, 'जो कुछ मिला है या दिखता है यह सब परमात्मा का है, परमात्मा में है, ऐसा निश्चय रखना ही सत्संग है।

यह भी आश्चर्य की बात है कि परिवार में हमें किसी ने पुत्र कहा, किसी ने बन्धु कहा, किसी ने पिता कहा, अर्थात् जिस ने जो बनाया, हम मानते गये, वही बनते गये और उसकी विस्मृति नहीं होती परन्तु हमारे भगवान ने कहा कि 'जीवात्मा रूप में तू मेरा सनातन अंश है, इसे हम भूले रहते हैं। साधक को अपने और भगवान के इस संबंध को निरन्तर स्मरण रखना चाहिए। स्मरण के लिए अभ्यास दुहराना चाहिए। हम जब देह को देखें तब स्मरण रहे कि यह मृत्यु से घिरी है; जन्म लेने के बाद ही मृत्यु की ओर जा रही है, यह अपनी नहीं है, साथ ही अपने को देखे तब स्मरण रहे कि हम अविनाशी परमात्मा की आत्मा हैं हम अविनाशी हैं हमारी मृत्यु होनी ही नहीं है। क्योंकि आत्मा अजन्मा है नित्य, अवध्य है सनातन है यह गलने, सूखने, भीगने वाला नहीं है, यह आत्मा अविकारी है, स्थिर है, अव्यक्त है ऐसा मनन करते रहना चाहिए।

भगवान परमगुरु का आदेश है कि सुख दुःख आने जाने वाले हैं, इसलिए इनकी प्रतीति में सम रहना चाहिए। जो धीर पुरुष हैं वे ही समस्थित रहते हैं और अमरत्व के अधिकारी हो जाते हैं।

परिस्थिति के बन्धन में दब जाना मृत्यु है और परिस्थिति का स्वाधीनता पूर्वक सदुपयोग करना अमरत्व है। परमात्मा से अपने को विभक्त मानना मृत्यु है और अविभक्त रहना अमरत्व है।

हम साधकों को सावधान रहकर देह के साथ अपने को नहीं मिलाकर अविनाशी चेतन परमात्मा के साथ एकता अभिन्नता का अनुभव करना चाहिए। जगत की वस्तुओं से अथवा देहादि से हमारा अनित्य संबंध है परन्तु परमात्मा से हमारा नित्य निरन्तर संबंध है।

कृपालु सन्त उन लोगों पर अति करुणित होते हैं जो अपने को ज्ञानी मानते हैं पर उस ज्ञान के साथ अज्ञान की सीमा को नहीं देख पाते। वे ही दया एवं उपदेश के पात्र हैं जो मिली हुई शक्ति के, सम्पत्ति के अथवा संबंधित परिवार के तथा भूमि के, भवन के मालिक बन रहे हैं परन्तु वह यह नहीं जान सके कि जिस वस्तु के या व्यक्ति के मालिक बने हैं उस पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है; क्योंकि जीवन में जो कुछ भी मिलता है, जिसका भी अकस्मात् या बड़े प्रयत्न से संयोग होता है, वह अचानक छूट जाता है, संयोग को बनाये रहने के अनेकों प्रयत्न करते हुए भी वियोग हो ही जाता है, आश्चर्य है कि हम मूढ़ मनुष्य तब भी अपनी भूल को, भ्रम को, अज्ञान को नहीं समझ पाते, पुनः उसी लाभ के लिये, तथा संयोग के लिए, अधिकार प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं।

इस समय इन शब्दों का अध्ययन मनन करने वाले सज्जनों आप अपनी ओर देखिये। कहीं आप भी ऐसी भूल में, 'भ्रम में, एवं अज्ञान में समय को व्यर्थ नष्ट करते हुए अनर्थ तो नहीं कर रहे हैं? सावधान होकर परमार्थ को साधो स्वार्थ को छोड़ो, यही भगवान का सन्देश है।

संसारी जनों के वचन सुनते हुए उन्हें मान लेने से ही हम मोही, लोभी, अभिमानी बन गए हैं। अब भगवान के वचन सुनकर ज्ञात हो रहा है कि जिन संबंधियों को हमने सुन–सुनकर अपना मान लिया है तथा जिन वस्तुओं को अपनी मान चुके हैं उन पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। अपने द्वारा हो सकने वाले कर्तव्य कर्म करने का ही अधिकार है किन्तु कर्म के इच्छित फल पर अधिकार नहीं है।

भगवान के वचनों से यह ज्ञात हो रहा है कि जब तक हम कहीं भी चिन्तित होते हैं भयातुर होते हैं; दुःखी अशान्त होते हैं, तब तक हम अज्ञान में हैं, भ्रम में हैं,कहीं मूर्ख हैं, कहीं मूढ़ हैं। हम भले ही पण्डितों की सी बातें दुहराते हों पर जब शोक न करने के स्थान में शोक करते हैं तब धीरता, वीरता से हीन ही हैं, यही असत संगाभ्यास का परिणाम है।

भगवान के वचनों से यह भी निर्णय मिला कि हम परिवार के शरीरों से अपनत्व बढ़ाकर उन्हें अपना मान कर मोही बने हैं इसलिये वियोग का दुःख होता है। मिले हुए धन को अपना मानकर लोभी बन रहे हैं इसीलिये हानि का दुःख होता है। किसी अधिकार के अभिमानी बन रहे हैं इसीलिये अपमान का दुःख भोगना पड़ता है।

हम अज्ञात काल से सुन सुनकर कुछ मान रहे हैं किसी के समझाने पर बहुत कुछ जान रहे हैं, जैसा निकटवर्ती जनों को करते देखा है वैसा ही कर रहे हैं और अधिक जानकारी बढ़ाने के लिये कुछ न कुछ पढ़ रहे हैं।

सब की सुनते सुनते जब से परमगुरु भगवान के आदेश, सन्देश, उपदेश, निर्देश सुनने को मिले तब से पता चला कि हम लाखों करोड़ों मनुष्यों को यही नहीं पता है कि मानने योग्य क्या है? जानने योग्य क्या है? करने योग्य क्या है? और पढ़ने योग्य क्या है?

भगवान ने बताया है कि तुम अपने जीवन में अपना उसी को मानो जो तुम्हारा है; तुम्हारा वही है जो तुम्हें कभी त्यागता नहीं और जिसके बिना तुम कुछ हो ही नहीं सकते। तुम्हारा वही है जो बिना मांगे ही, वह देता आ रहा है जिसे तुम बना नहीं सकते और उसके अतिरिक्त अन्य कहीं पा नहीं सकते।

भगवान ने यह भी बताया कि जानना है तो उसी को जानो जो नित्य है, निरन्तर है, जिसका कहीं अभाव नहीं होता, जो केवल है, और वह आत्मा है, परमात्मा है, इसी को जानने से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है, और अमरत्व मिला मिलाया दिखता है।

भगवान ने यह भी बताया है, कोई प्राणी कुछ करे बिना रह नहीं सकता इसीलिये बुद्धिमान विवेकी मनुष्य को केवल सेवा भाव से सर्व हितकारी कर्म करते रहना चाहिए परन्तु मन को साध लेने पर, बुद्धि के सम होने पर ही सर्वहित सधेगा। कर्म करने का ही हमें अधिकार है; इसलिये जिससे दूसरों का हित हो वही कर्म करते रहना है, अपने लिये कुछ नहीं चाहना है। क्योंकि न चाहने पर भी जो हम सब को आवश्यक होगा अर्थात् जिसके हम अधिकारी होंगे वह स्वतः मिलेगा और जिसके हम अधिकारी नहीं हैं वह चाहने पर भी नहीं मिलेगा। फिर भी हम प्रमादी मनुष्य मोह की मादकता वश भले ही न सुने।

जो भगवान के वचन सुन कर समझकर पुण्यात्मा महात्मा हो चुके हैं वह भी यही सम्मति देते हैं कि मानना है तो परमात्मा को ही अपना मानो। जानना है तो अपने सत स्वरूप को जानो। कुछ करना ही है तो सर्वहितकारी कर्म करो।

कुछ सुनना ही है तो अवसर पाते ही भगवत वचन सुनो। सर्व वेदों उपनिषदों का सार भगवान ने गीता गायन किया है उसे सुनो, उसे पढ़ो, उसे समझो, और तदनुसार आचरण में लाओ।

देखना ही है तो ध्यान से अपने को देखो और सर्वत्र सर्वमय प्रभु परमात्मा को देखने की दृष्टि प्राप्त करो और सत्य दर्शक दृष्टि खोलने के लिये साधना को जानो। साधना को जानना है तो इतना ही जान लो कि सेवा कार्य पूर्ण करने के लिये देह में कर्मेन्द्रियों को साधे रहकर विधिवत कर्म करना साधना है। कर्मेन्द्रियों से विधिवत कर्म पूरा करते रहने के लिये नेत्र, वाणी, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को साधे रहना साधना है। ज्ञानेन्द्रियों में कहीं चंचलता न आने पाये इसके लिये मन को साधे रह कर सेवा कार्य पूर्ण करना साधना है।

मन को साधे रहने के लिये बुद्धि को अपने लक्ष्य पर स्थिर रखना साधना है।

जिस प्रकार अपने निर्दिष्ट स्थान में पहुँचने के लिये कोई साईकिल रूपी साधन को साधकर चलता है या मोटर को क्षण–क्षण साधे रहकर तीव्रगति से यात्रा पूरी करता है इसी प्रकार साधन को साधे रहना ही साधना है। अतः साधना है तो साधनों को ही साधो।

स्वार्थी मनुष्य अपनी तृप्ति के लिये अपने ही सुख के लिये कर्म करता है वही भोगी बनता है। किन्तु परमार्थी साधक परमात्मा को अपना सर्वस्व जानता है और सब प्राणियों को परमात्मा के ही जीवात्मा समझ, सबके प्रति प्रेम रखते हुए कर्मों द्वारा सब की सेवा करते हुए भोगस्थ न रहकर परमात्मा में योगस्थ होता है।

सम्पूर्ण सूर्य परमात्मा है तो उसी की सब किरणें जीवात्मा हैं। जो किरण समग्र सूर्य से विमुख रहकर अपने को ही देखती है, अपना ही सुख चाहती है वही स्वार्थी जीवात्मा है। जो किरण समग्र सूर्य के सन्मुख होकर समग्र किरणरूपी जीवात्मा के साथ प्रेम पूर्वक एकता का अनुभव करते हुए सबके प्रति उदारतापूर्वक सेवा भावना रखती है वही परमार्थी महात्मा है।

स्वार्थी असाधक की पहिचान

(1) अयोगी, कुयोगी, भोगी होता है। (2) सकाम कर्म करता है। (3) फलाधिकार के लिये व्यग्र रहता है। (4) परहित कार्य में आलसी रहता है। (5) कार्य सिद्धि में घमण्ड करता है। (6) कार्य की असिद्धि में शोक करता है। (7) परमात्मा का योग भूल कर कर्म करता है। (8) स्वार्थ सिद्धि के लिये कर्म करता है। (9) काम प्रेरित होकर कर्म करता है। (10) सकाम मन से भोगी होता है। (11) भोगी व्यर्थ ही अनर्थ करता है।

परमार्थी साधक की पहिचान

(1) सुभोगी, बुद्धियोगी, समत्वयोगी होता है। (2) निष्काम रह कर कर्म करता है। (3) अधिकार छोड़कर स्वस्थ रहता है। (4) परहित कार्य में श्रमी संयमी होता है। (5) कार्य सिद्धि में

गर्वरहित रहता है। (6) कार्य असिद्धि में समशान्त रहता है। (7) योगस्थ रहकर कर्म करता है। (8) सर्वहित के लिये कर्म करता है। (9) सर्वाधार राम से प्रेरित होकर कर्म करता है। (10) निष्काम बुद्धि से योगी होता है। (11) योगी सार्थक ही नहीं, परम अर्थ की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

हम अनेकों स्वार्थी साधकों का अभ्यास इतना दृढ़ है कि जप कीर्तन, पूजापाठ तीर्थयात्रा, मन्दिर दर्शन, यज्ञदान, तप आदि जो कुछ भी शुभ करते हैं, उसके पहले ही क्या फल होगा? यह समझ लेते हैं। भगवान कहते हैं फलाशा छोड़कर या फल का दान करने के लिये कर्म करो परन्तु हम ऐसे भक्त हैं कि फलाशा बिना कोई कर्म करना ही नहीं चाहते। कभी कभी तो फल पहले ही चाहते हैं, तत्पश्चात् सेवा पूजा करने का निश्चय करते हैं।

कर्मयोग द्वारा चित्त की शुद्धि के लिये, अथवा कर्मयोग की सिद्धि के लिये फल की आशा छोड़कर शुभ करते रहना चाहिए।

प्रत्येक कर्म कुशलतापूर्वक करना चाहिए सर्दी–गर्मी मानापमान, दुख–सुख से अधीर, आतुर, अति हर्षित एवं अति खिन्न नहीं होकर सम रहना चाहिए। कर्म का त्याग कर, आलसी न बनकर, दूसरों की भलाई का ध्यान रखकर, शुभ, सुन्दर नियत कर्तव्य कर्म करते ही रहना चाहिए। ऐसा करने से चित्त शुद्ध होगा, मनस्थिर होगा।

परमगुरु नारायण का यह भी निर्णय है कि– कर्म त्याग से (केवल शरीर द्वारा वन चले जाने से) सिद्धि नहीं मिलती, क्योंकि कर्म प्राकृतिक धर्म है। जो बाहर से त्यागी बनता है पर भीतर मन से धन का या मान का अथवा भोग का चिन्तन करता है वह ढोंगी है। इसीलिये मन से इन्द्रियों को संयम में रखकर योग के लिये भोगासक्ति का त्याग करो।

भगवान सावधान करते हैं कि दैनिक पापों से बचते रहो। समस्त पापों का मूल आत्म अज्ञान है, अज्ञान में ही भोगासक्ति सुखासक्ति प्रबल है; इसे छोड़े बिना पापों का अन्त नहीं होता।

हम परमार्थी साधकों को यह सन्देश याद रखना चाहिये कि जो पूज्यों की पूजा, संगठन, दान नहीं करके, स्वार्थी होकर जो अकेले ही भोगते हैं वह पापी बनते हैं। परमगुरु भगवान का आदेश है कि साधना की सिद्धि के लिये मोह से मुक्त होने के लिये, पुण्यकर्म ही करते रहो, पाप कर्मों से बचते रहो तभी दृढ़व्रती होकर, सर्वमय भगवान को जानकर, सर्वगत, सर्वहृदय निवासी की सेवा रूपी भजन कर सकोगे, तभी सर्वत्र सत्यदर्शी, तत्वदर्शी हो सकोगे।

परमगुरु भगवान के निर्णयानुसारः– ''हम साधकों को देह को देखकर बार–बार विचार करना चाहिये कि– यह शरीर जन्मता है, पुष्ट होता है, अथवा कृश होता है, तरुण वृद्ध होता है, जीर्ण होता है अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। यह शरीर काटा, जलाया, गलाया, सुखाया जा सकता है। यह शरीर विकारी है, व्यक्त है, एक देशी है।''

शरीर के प्रति विचार करते हुए शरीर में प्रकाशित जो आत्मा है उसे अजन्मा, अविकारी, अमर, अव्यय, अविनाशी समझना चाहिये; इस आत्मा को नित्य सनातन, पुराण अप्रमेय, अतर्क्य,

अचिन्त्य, आश्चर्य रूप, सर्वगत, अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य और अबध्य अनुभव करते हुए निर्भय, निश्चिन्त, शान्त, सम रहना चाहिये।

शरीर का जन्म और मृत्यु वस्त्र धारण करने और छोड़ने के समान है इससे आत्मा में कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जब तक हम अपनी प्रसन्नता किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के संयोग में निर्भर करते हैं तब तक उस वस्तु या व्यक्ति की दासता से संयोग में हर्षित, वियोग में व्यथित होते ही रहेंगे, इसीलिये भगवान की बात समझकर हम साधकों को मन की कामना पूर्ति से मिलने वाले सुख से तृप्त होने की आशा छोड़ देनी चाहिये इन्द्रियों को विषयों से अलग रखकर, संयमी होकर, शक्ति संचित कर दूसरों की सेवा करनी चाहिये उसके फल से विरक्त रहकर, राग–द्वेष से रहित होकर, निःस्पृह, निर्मम, निरहंकार होकर अपने आत्मा में शान्त, तृप्त, सन्तुष्ट होकर प्रत्येक कार्य के आदि, मध्य, अन्त में आत्मा का मनन–चिन्तन करते हुए कर्तव्य पूरे करना चाहिए।

कटु शब्द, अनर्गल व्यर्थ शब्द बोलने का अभ्यास मिटाने के लिये मधुर शब्द सार्थक शब्द अच्छे शब्द बोलते रहने का दृढ़ संकल्प करो और बोलने में सावधान रहो।

व्यर्थ अनर्थकारी विकारी अध्ययन को छोड़ दो अच्छे ग्रंथों का ही अध्ययन करो। समय व्यर्थ नष्ट न करो। व्यर्थ परचर्चा पुरानी बीती घटनाओं की चर्चा न सुनो, जिससे दूसरों को अच्छी प्रेरणा न मिलती हो ऐसी बातें सुनाकर समय नष्ट न करो।

स्वाद के प्रति आसक्ति छोड़ दो, अनावश्यक खटाई, मिर्चा, चाट, मिठाई, चाय, सिगरेट आदि किसी दुर्व्यसन का अभ्यास न बढ़ने दो। अस्वाद व्रत का पालन करो सात्विक आहार के ही अभ्यासी बनो। सुन्दर रूप देखने के अभ्यास का विचारपूर्वक विरोध करो। अधिकतर कानों से मधुर गीत तथा रेडियो सुनते रहने का अभ्यास हितकारी सेवा के अभ्यास में बदल दो। किसी से अनावश्यक मिलने का अभ्यास, कहीं व्यर्थ बैठने का अभ्यास, हँसते हुए बात करने का अभ्यास, अंगों से व्यर्थ चेष्टा का अभ्यास, किसी से वार्ता करते हुए बीच में 'मतलब' 'जो है' 'क्या नाम' 'क्या कहते हैं' 'समझे' आदि वाक्यों को वार बार दुहराने का अभ्यास तो बहुत सावधान रहने पर या किसी के सावधान करने पर ही छूट पाता है। साधना की पूर्ति के लिये शक्ति भी है समय भी है परन्तु व्यर्थ से बचने की सावधानी नहीं रहती है।

भगवान के निर्देश, आदेशानुसार हम सभी साधकों को चाहिये कि नित्य जब देह को, दृश्य को देखें तभी विचार करें, मनन करें और देखें कि हमारे भीतर आत्मा की ही सत्ता है, आत्मा ही चेतन है, वही मैं हूँ, मैं अजन्मा हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, देह का द्रष्टा हूँ, नित्य हूँ, शाश्वत हूँ, पुराण पुरुष हूँ, अवध्य हूँ, अच्छेद्य हूँ, अशोष्य हूँ, अचल हूँ, सनातन हूँ, अव्यक्त अचिन्त्य अविकारी हूँ, सर्वगत अणु से भी सूक्ष्म अणु हूँ, और महान से भी महान हूँ। ऐसे ही हमें विचारना चाहिये मनन करना चाहिये और देखना चाहिये अर्थात् अनुभव करना चाहिये। ऐसा करने से आत्मिक बोध बढ़ता जायगा और देहाभ्यास घटता जायगा।

भगवान नारायण का निर्णय है हजारों मनुष्यों में कोई एक इस आत्मानुभूति के लिये यत्न करता है और प्रयत्न करने वालों में कोई विरला ही सिद्धि प्राप्त करता है।

यह देहाभिमानी अहंकार कहता है कि मैं बोलता हूँ, सुनता हूँ, चलता हूँ, चढ़ता हूँ, खाता हूँ, मैं ऐसा करता हूँ, वैसा करूँगा, ऐसा कहना मानना अहंकार की महा मूढ़ता है; वास्तव में यह महान शक्तिमान आत्मा की सत्ता से जड़ देह में समस्त क्रियायें हो रही हैं। बोलना सुनना देखना लेना देना चलना, उठना चढ़ना भोजन करना पचाना रक्त वीर्यादि का बनना, मनन विचार सब कुछ आत्मा के ही प्रकाश में हो रहा है। ऐसा अनुभव करो, भूलो नहीं!

सुख–दुःख शीत–ऊष्ण आदि द्वन्द्वों का स्पर्श अथवा वेदना शरीर तक ही रहते हैं, आत्मा तक इनकी गति नहीं, प्रत्युत आत्मा की सत्ता में ही वेदना की प्रतीति होती है। भगवान का आदेश है कि सभी द्वन्द्वों को सम शान्त रहकर सहन करते रहो सहन करने से दुःख की वेदना नहीं होती।

विषयों के भोगने का अभ्यास हो गया है वहीं पर प्रत्येक विषय वेदना को देखने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये जहाँ अपने को दुःखी मानने का अभ्यास है, वहीं पर ऐसा अभ्यास बढ़ाना चाहिये कि शीत, ऊष्ण आदि की प्रतीति शरीर द्वारा हो रही है; संयोग, वियोग की सुखद–दुःखद वेदना की प्रतीति भी मन द्वारा हो रही है। जहाँ किसी के साथ मिलकर 'मैं कहने का अभ्यास हो गया है वहीं पर 'यह' कहने का और भीतर से समझने का अभ्यास होना चाहिये।

भगवान का निर्णय है कि प्रकृति से सब कर्म हो रहे हैं आत्मा सदा अकर्ता है, ऐसा जो अनुभव करता है वह आत्मा ही हो जाता है। अहंकार की गांठ ही दुःख–सुख के बन्धन को लिये हुए है।

ज्ञान योग की साधना में चित्त की अशुद्धि बाधक बनती हैं इसीलिये कर्मयोग की साधना का अभ्यास दृढ़ करना आवश्यक है। कर्म करते हुए जब फल भोग की कामना का त्याग होगा तभी कर्म–भोग न बनकर कर्म–योग हो जायगा।

इन्द्रियों का संयम, राग द्वेष का त्याग, काम क्रोध का शमन करना ही होता है। इसी के लिये इन्द्रियों तथा मनरूपी साधनों को साधे रहना आवश्यक है। साधे रहना ही साधना है।

योग और भोग

भगवान के सन्मुख होने में योग	भगवान से विमुख रहने में भोग
(1) परमात्मानन्द का योग	(1) विषाद का भोग
(2) पुरुषोत्तम का योग	(2) प्रकृति का भोग
(3) दैवी सम्पद् का योग	(3) आसुरी सम्पद् का भोग
(4) सद्गुण योग	(4) रज तम का भोग
(5) मोक्ष योग	(5) बन्धन का भोग
(6) सन्यास योग	(6) ग्रहण का भोग
(7) सात्विक श्रद्धा योग	(7) अश्रद्धा का भोग
(8) फलाशा रहित कर्मयोग	(8) आलस्य का भोग
(9) ज्ञान विज्ञान योग	(9) अज्ञान कुज्ञान का भोग
(10) ब्रह्मार्पण योग	(10) अहंकार रक्षण का भोग
(11) ध्यान योग	(11) चान्चल्य भोग
(12) आत्म संयम योग	(12) असंयम का भोग
(13) अक्षर ब्रह्म योग	(13) क्षर विषयों का भोग
(14) विभूति योग	(14) अभूति का भोग
(15) विश्व रूप दर्शन योग	(15) व्यक्ति रूप में मोह का भोग
(16) राजविद्या ब्रह्म विद्यायोग	(16) अविद्या कुविद्या का भोग
(17) राज गुह्य योग	(17) कुराज गुह्य हानि का भोग
(18) भक्ति योग	(18) विभक्ति का भोग
(19) प्रकृति पुरुष विवेक योग	(19)प्रकृति–पुरुष अविवेक का भोग
(20) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ योग	(20) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वियोग भोग

इन्द्रिय द्वार से बाहर भोग को पकड़ते रहने का जन्मों से अभ्यास है इसीलिये साधनाभ्यास में कठिनता होती है। कुछ न कुछ करने का अभ्यास ध्यानयोग में स्थिर नहीं होने देता। भगवान ने पूर्वाभ्यास को बदलने के लिये धीरे धीरे बुद्धिपूर्वक साधनाभ्यास की सम्मति दी है।

देहादिक जड़ वस्तुओं से जितना अधिक प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है उतने जड़ साधनों के द्वारा साधना का आरम्भ होता है।

विशेष प्रकार की मूर्ति तथा पूजा की विशेष सामग्री एवं विशेष पद्धति आदि जड़ से सम्बन्धित साधना है।

जड़ से लौटकर केवल चेतन आत्मा में स्थिर होना आत्मस्थ होना, अर्थात् चेतना में ही पूर्ण जाग्रत होना ही परमात्मानुभव की साधना है।

देहस्थ, इन्द्रियस्थ, मनस्थ होकर साधना के अनेकों प्रकारों का प्रचार साधारण जनता में बहुत अधिक है परन्तु भगवान के मतानुसार गीता शास्त्र के अनुसार साधना स्वीकार करने वाले विद्वान विवेकी कम मिलते हैं। जो साधक जितनी अधिक देर तक विकार और विचार शान्त कर पाता है उतना ही अधिक विवेक का बल बढ़ता है।

जब तक प्रेम प्राप्त नहीं होता तब तक मन्दिरों में परमात्मा नहीं मिलता। जहाँ किसी वस्तु से प्रेम है वहीं आसक्ति है, वासना है। साधक को आसक्ति, ममता, कामना से सावधान होना चाहिये।

जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जो सन्देह रहित हैं, जो साधना द्वारा पूर्ण संयमी हैं, जो प्राणिमात्र के हित में लगे हैं वह निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। जो काम, क्रोध से रहित होकर चित्त को वश में कर लेते हैं वह परमात्मामय होकर निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं।

मनबुद्धि आदि साधनों को साधकर शान्त होना संकल्पों से शून्य होना ही परमात्मा से अभिन्नता की अनुभूति की साधना है।

केवल चिन्मात्र सत्ता में जागरण निर्वाण है और निर्वाण की साधना चेतना में पूर्ण विश्राम है। चित्त के लिये जब कोई आश्रय नहीं रहता तब अनायास ही परमाश्रय परमात्मा का योग सुलभ होता है।

समस्त विश्व की प्रतीति जिसमें होती है वही परमात्मा है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि में जिसकी शक्ति है, गति है वही आत्मा है, बाहर की ओर जो भी मन आदि की गति है उसी के सहारे भीतर की ओर लौटना योगानुभव की साधना है।

प्राकृतिक जो कुछ भी है वह दृश्य है, परमात्मा अदृश्य है। जो दृश्य में अटक जाते हैं वह अदृश्य परमात्मा में नहीं पहुँच पाते।

मन, इन्द्रिय आदि साधनों के द्वारा काम की पूर्ति में भोग है। मन आदि साधनों को साधकर विश्राम की पूर्णता में योग है।

देह, इन्द्रिय, मन के आश्रय में काम की पूर्ति होती है स्वयं में प्रतिष्ठित होने पर शान्त होने पर विश्राम की पूर्ति होती है। काम के भोग में श्रम ही श्रम है परमात्मा राम के योग में विश्राम ही नहीं परम विश्राम है।

भोग कामना के त्याग से ही योग की सिद्धि होती है योग की अभिलाषा प्रबल होने पर ही कामना का त्याग सरल हो जाता है।

योगानुभव उसी का होता है जो अपने में है, अभी है। जो अपने से भिन्न है, जो कभी और कहीं मिलता है उसी को संयोग कहते हैं, सम्बन्ध विच्छेद को वियोग कहते हैं।

परमगुरु भगवान का आदेश है कि–

'आत्म संस्थं मनः कृत्वा न किंचदपि चिन्तयेत' चंचल मन को बार बार साधकर आत्मा में ही स्थिर करो कोई दूसरा विचार न करो। 'योगस्थः कुरु कर्माणि' योगस्थ होकर कर्म करो। भोगस्थ ही न बने रहो।

भगवान की सम्मति है कि कामना, वासना, आसक्तियों के त्याग के लिये कर्मयोग का आचरण आवश्यक है।

कर्मयोग की सिद्धि के लिये शरीर इन्द्रियों द्वारा सर्व हितकारी कर्म करो, मन को हृदयस्थ ईश्वर में आत्मा में लगाये रहो, चाहे प्रिय को हृदय से लगाओ चाहे शत्रु के हृदय में बाण चलाओ जिस चेतन सत्ता के द्वारा सब कुछ करते हो उस चेतन आत्मा का स्मरण करते रहो।

मामनुस्मर युद्धयचः – सर्वत्र हृदयस्थ आत्मा को न भूलो फिर घोर कर्म करते रहो। बुद्धि को आत्मा में ही स्थिर करो, वासनापूर्ति के लिये मन बुद्धि को विषयोन्मुख न होने दो।

कर्मयोग के सध जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है अन्तःकरण की शुद्धि होने पर सद्भाव दृढ़ होता है, ज्ञानप्रकाश मिल जाता है। ज्ञान प्रकाश में प्रज्ञा द्वारा परमात्मा का बोध होता है।

भगवान के मतानुसार जीवात्मा जब तक भोग से मुक्त हो कर ब्रह्म योग से युक्त न होगा तब तक अक्षय आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। क्षणिक सुख के पीछे भटकता रहेगा।

जो विचारों के आदि अन्त में और जो मध्य में भी विद्यमान है वही आत्मा है।

केवल अकेले होना अन्य किसी की प्रतीति न होना ध्यानयोग की साधना है। कुछ भी न करना ही ध्यानयोग की तैयारी है।

वर्तमान में कर्तव्य पालन करना भविष्य में मिलने वाले फल का अथवा किसी प्रकार का चिन्तन न करना और बीते हुए का स्मरण न करना ध्यानयोग की साधना है। विचार छोड़ कर चेतना की गहराई में उतरना ध्यानयोग की साधना है।

ध्यान द्वारा मूलाधार में, स्वाधिष्ठान में (नाभिचक्र) मणिपुर में (हृदयचक्र) अनाहत में (कण्ठचक्र) विशुद्ध में (तालमूल) ललनाचक्र में ध्यानयोग की साधना द्वारा मन को लीन करने से अनेकों प्रकार की सिद्धि मिलती हैं।

आज्ञाचक्र को सहस्रार को ध्यानयोग द्वारा देखने से मोक्षनिर्वाण पद प्राप्त होता है।

हमारे भगवान का निर्णय है कि जो अन्तरात्मा में ही सुखी है, जिसे अन्तरात्मा में ही शान्ति रहती है, जिन्हें आत्मा का ज्ञान प्रकाश प्राप्त है वह योगी ब्रह्म निर्वाण पद को प्राप्त होता है।

पूजा

हमने अज्ञान में किसी मूर्ति में भगवान को मानकर पुष्प, जल तथा सुखाद्य पदार्थों को अर्पण करना ही पूजा माना था। हम किसी एक विशेष स्थान में, किसी मन्दिर एवं किसी मूर्ति में ही भगवान को मानते थे, इसीलिये खण्ड भाव से कुछ वस्तुओं द्वारा भगवान की पूजा करते हुए अपने को पूजक मान कर सन्तुष्ट होते थे। सहस्रों मनुष्यों को जिस प्रकार पूजा–प्रार्थना–स्तुति करते देखा उसी प्रकार हम भी करने लगे, जिस समय से भगवान की वाणी सुनने–पढ़ने का सुअवसर मिला, उस समय से अपने भ्रम का तथा अज्ञान का ज्ञान हो सका।

भगवान तो अपने समस्त कर्मों द्वारा प्राणि मात्र की सेवा करने को ही अपनी पूजा कह रहे हैं। भगवान अपने को किसी मन्दिर या मूर्ति में ही सीमित न कहकर प्राणिमात्र के हृदय में आत्मा के रूप में नित्य प्रतिष्ठित बता रहे हैं।

भगवान ने कहा है कि मैं प्रत्येक प्राणी में वैश्वानर अग्नि के रूप में विद्यमान हूं, मुझे सब में विद्यमान जानकर जो भूखे को अन्न देता है, प्यासे को पानी पिलाता है, वह अन्न जल द्वारा मेरी ही पूजा करता है।

प्रायः प्रत्येक मनुष्य अपने सम्बन्धियों के जिस प्रकार के शब्दों को सुनता है उसी प्रकार बोलने लगता है, जैसा करते देखता है, वैसा ही करने लगता है, जो कुछ वाणी से, हाथों, पैरों से तथा मन से बार–बार दुहराता है वही सहज अभ्यास नित्य कर्म बन जाता है।

जिन घरों में भगवान की पूजा–प्रार्थना नियम से होती है उन घरों के बालकों में वैसा ही संस्कार पड़ जाता है; अनेकों बालक सयाने होकर जैसा करते देखा था वैसी ही पूजा, प्रार्थना, साधना करने लग जाते हैं परन्तु उन्हें यह पता नहीं होता कि भगवान क्या हैं और उनकी वास्तविक पूजा क्या है?

किसी भी विद्वान को पूजा आराधना करते हुए यह जानना चाहिये कि जिनकी पूजा हम करते हैं उन भगवान का स्वरूप क्या है?वे किस प्रकार की पूजा से प्रसन्न होते हैं? उनकी क्या इच्छा है उन्हें क्या प्रिय लगता है?यह जानकर उन की आज्ञानुसार उनकी प्रसन्नता के लिये सब कुछ करना और अपनी रुचि पूर्ति का पक्ष न लेना ही उनकी सेवा, पूजा, आराधना है।

भगवान का निर्णय है कि जो सर्वत्र व्याप्त है और जिससे ये सब प्राणी हुए हैं उस परमात्मा की पूजा अपने कर्मों द्वारा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है (गी0 18।46)

यदि हम अपने सामने होने वाले किसी भी प्राणी के रूप में परमेश्वर को देखते हुए उसकी सन्तुष्टि, तृप्ति के लिये उसकी आवश्यकतानुसार अन्न, जल, पत्र–पुष्प वस्त्र तथा मुधर शब्दों द्वारा प्यार–सम्मान अथवा किसी भी प्रकार का शुभ सुन्दर दान करते हैं तब वह कर्म परमेश्वर की ही पूजा हो जाती है और उसका फल परमेश्वर की ओर से ही मिलता है किन्तु जब हम किसी प्रकार का फल नहीं चाहते हैं तब निष्काम पूजा के द्वारा परमेश्वर ही अनन्त रस एवं अखण्ड आनन्द रूप में हमारे समक्ष सुलभ होता है।

जब तक हम सब कुछ के दाता सर्व शक्ति सम्पन्न, सर्वज्ञ, अखण्ड ज्ञान, असीम प्रेम स्वरूप परमात्मा को नहीं मानते, जानते तब तक विनाशी देह और देहाभिमानी अल्प शक्ति वाले, अल्प ज्ञान वाले सीमित प्रेम को लेकर मोही, लोभी, कामी की पूजा, आराधना, उपासना करते हुए अन्त में दुःख, कष्ट, बन्धन, अशान्ति के ही भोगी बनते हैं।

कुछ विशेष पुण्य के योग से, साधु सन्त के संग से, जब हम अपने से या सब से श्रेष्ठ भगवान परमात्मा के विषय में सुनते या पढ़ते हैं तब अपनी मन्द मति के अनुसार उस परमात्मा को किसी मन्दिर में, मूर्ति में या किसी विशेष स्थान में ही मानते हैं और उस मान्यता के भीतर पाप, अपराध, झूठ, छल करना पाप समझते हैं किन्तु मान्यता के बाहर जहाँ परमात्मा को नहीं मानते वहाँ छल, कपट, झूठ, अनाचार, व्यभिचार, लूटमार करते हुए संकोच नहीं करते।

अज्ञान में हम लाखों व्यक्ति मन्दिर में मूर्ति में भगवान को मानने वाले मन्दिरों में जाते हैं वहां भगवान की पूजा की ओट लेकर अपनी रुचि की पूर्ति में संतुष्ट होते हैं।

जहाँ शान्त होकर परमेश्वर की दया, कृपा, करुणा, प्रेम तथा उनके महान दान को ध्यान से देखना चाहिये, विचार करना चाहिये, जहाँ इन्द्रियों को विषयों से मोड़कर मन से केवल जप, स्मरण तथा चित्त से आत्म–चिन्तन, बुद्धि से तत्व विचार एवं आत्म निरीक्षण करना चाहिये, वहाँ हम एक दूसरे को देखकर घण्टा बजाते हुए, उच्च स्वर से अपनी–अपनी मानी हुई प्रार्थना को दुहराते हुए आरती, धूप, नैवेद्य दिखाकर अपनी अपनी कामना पूर्ति की आशा से नित्य उन्हीं क्रियाओं को दुहराते रहने के अभ्यासी हो गये हैं।

पुजारी पण्डित कहलाने वाले भी या तो अपनी मूढ़ता के कारण या फिर मन्दिर में आने वालों की मूर्खता के कारण लोभी–कामी को कामना पूर्ति का लालच देकर और भोगी को भय दिखाकर इसी प्रकार की पूजा पद्धति की ही प्रेरणा देते रहते हैं, भगवान का सन्देश आदेश–उपदेश नहीं दे पाते।

आज के हम धर्म प्रेमी वेद को, गीता को एवं परमेश्वर को मानते हैं और वेद, शास्त्र, गीता तथा भगवान को प्राणों से अधिक प्रिय समझते हैं, धर्म के नाम पर प्राण देने और दूसरों के प्राण लेने को तैयार हो जाते हैं परन्तु जीवन के निर्माण के लिये धर्म को जीवन में नहीं देख पाते। परमेश्वर को मानने वाले हम परमेश्वर के आदेशानुसार विश्व रूप, सर्व रूप, परमात्मा की पूजा, सेवा, उपासना नहीं कर पाते। हम अनेकों साधक मन्दिर, मूर्ति, नाम, रूप के मोह में भ्रमित रहकर मन्दिर–मूर्ति के पीछे परमात्मा की आत्माओं से द्वेष–घृणा कलह, क्रोध, हिंसा करते रहते हैं।

हममें से जो सज्जन गीता को भगवद् वाक्य मानते हैं उन को बुद्धियोग द्वारा भगवान के विश्व रूप, विराट् रूप, और व्यष्टि रूप की एकता, जानकर सर्व भाव से परमेश्वर की उपासना, पूजा, भजन पूर्ण करना चाहिये। जिस प्रकार हम किसी एक मूर्ति में परमात्मा को व्यापक मान कर पूज्य भाव रखते हैं उसी प्रकार हमें सर्व में आत्मा–परमात्मा को प्रतिष्ठित जानकर सर्व की पूज्य–भाव प्रेम–भाव पूर्वक स्वकर्म द्वारा पूजा करते रहने के लिये भगवान का आदेश है।

भगवान ने उस परमात्मा का वर्णन किया है जिसके जानने से जीवात्मा अमृतत्व प्राप्त करता है।

इस लोक में उसके सर्वत्र हाथ, पाँव, सब ओर आंख सिर और मुख हैं, सब ओर कान हैं। वह सर्वत्र व्याप रहा है। (गीता 13।13)।

उसमें सर्व इन्द्रियों के गुणों का आभास है, तो भी वह सर्व इन्द्रिय रहित है। सर्वत्र आसक्ति रहित सबका भरण–पोषण करने वाला, गुण रहित होने पर भी गुणों का भोक्ता है (13।14)। वह सब भूतों के बाहर भी है और भीतर भी वही है, वह स्थिर भी है और चर भी है, वह अति सूक्ष्म होने से जानने में कठिन है, और वह जैसा दूर है वैसा ही अति निकट भी है। वह अखण्डित है पर प्रत्येक भूत में खण्डित–सा दिखता है। वही सबकी उत्पत्ति स्थिति और नाश भी करता है। सब तेजस्वी पदार्थों को उसी से तेज मिलता है, उसके पास अन्धकार नहीं है, क्योंकि वह उससे परे है। वही ज्ञान है वही जानने योग्य है और वही ज्ञान से प्राप्तव्य है। ऐसा वह परमात्मा सबके हृदयों में रहता है। (गी0 13/15–17)।

भगवान का यह भी निर्णय है कि परमात्मा के दर्शन के लिये पहले ज्ञान चक्षु प्राप्त करना चाहिये। ज्ञान दृष्टि से गर्व और हिंसा आदि पाप प्रवृत्ति दूर हो जाती है। पवित्रता स्थिरता और संयम की सिद्धि होती है, सद्गुरु की कृपा होती है, भोगों से विरक्ति होती है।

ज्ञान दृष्टि प्राप्त होने पर ही अहंकार की निवृत्ति होती है, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःखों में दोष दिखते हैं, भोगों से आसक्ति नहीं रहती, असंगता आ जाती है, इष्ट, अनिष्ट पदार्थों में चित्त सम रहता है, ईश्वर में अव्यभिचारिणी भक्ति होती है।

ज्ञान दृष्टि खुलने पर ही दिखता है कि इस विश्व में जो सात्विक, राजस, तामस भाव प्रकट हो रहे हैं, वह सब परमात्मा के सकाश से ही हो रहे हैं, जिस प्रकार मिट्टी के सहस्रों भिन्न–भिन्न पात्रों में मिट्टी ही है उसी भाँति सब नाम रूपमय परमात्मा ही है। सारा विश्व परमात्मा का ही शरीर है।

जिस प्रकार आत्मा का बोध प्राणी के शरीर द्वारा होता है उसी प्रकार पुरुषोत्तम परमात्मा का बोध उसके नव प्रकार की प्रकृति से बने हुए विश्वरूप में होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और जीवतत्व यही पुरुषोत्तम की नव तत्वों की देह है। सम्पूर्ण विश्व भूत मात्र इसी देह के भीतर है।

भगवान ने निर्णय कर दिया है कि देह में रहने वाला प्रत्येक पुरुष विश्व व्याप्त अथवा विश्वमय पुरुषोत्तम को जान कर अपने–अपने कर्मों द्वारा पुरुषोत्तम परमात्मा की पूजा का व्रत धारण करे, अपने कर्मों द्वारा ही पुरुषोत्तम प्रभु की सेवा करना ही उनकी पूजा है।

कोई भी ब्राह्मण शास्त्र, वेद तथा स्वानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान से अज्ञानियों को ज्ञान बताकर सेवा करे। कोई भी क्षत्रिय प्राप्त बल द्वारा दूसरों की रक्षा करते हुए सेवा करे, इसी प्रकार कोई भी वैश्य प्राप्त धन द्वारा समाज की सहायता करता रहे, इसी प्रकार कोई शूद्र भी अपने तन बल से दूसरों की सेवा करते हुए विश्वरूप पुरुषोत्तम परमात्मा की पूजा करता रहे।

भगवान की मूर्ति पर चन्दन, पुष्पमाला आदि अर्पण करना भी भावुक भक्त के लिये पूजा पद्धति है। वास्तविक पूजा अपने व्यवहार बर्ताव द्वारा पूर्ण होती हैं जो पुरुष सर्व में पुरुषोत्तम को जान लेता है वही सर्वभाव से पुरुषोत्तम परमात्मा की पूजा अर्थात् सेवा अर्थात् भजन पूर्ण करता है। वह ऐसा कोई कर्म नहीं करता है जो पुरुषोत्तम प्रभु की सेवा में बाधक हो।

श्री भगवान के वचन हैंः–

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।

तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।। (श्रीमद् भा0 3।29।21)

''मैं आत्मा रूप से सदा सभी जीवों में स्थित हूँ, इसलिए जो लोग मुझ सर्वभूत स्थित परमात्मा का अनादर करके केवल प्रतिमा में ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा स्वांग मात्र है।''

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।

नैवतुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः।। (श्रीमद् भा0 3।29।24)

''जो दूसरे जीवों का अपमान करता है वह बहुत–सी घटिया बढ़िया सामग्रियों से अनेक प्रकार के विधि विधान के साथ मेरी मूर्ति का पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता।''

द्विषतः परकायेमां मानिनो भिन्न दर्शिनः।

भूतेषु वद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।। (श्रीमद् भा0 3।29।23)

''जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवों के साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीरों में विद्यमान मुझ आत्मा से ही द्वेष करता है, उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।''

अथमां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।

अर्हयेद्दान मानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।। (श्रीमद् भा0 3।29।27)

आज के समय में सहस्रों मन्दिर और भगवान की मूर्तियाँ धन प्राप्त करने के साधन बना ली गई हैं। भगवान की मूर्ति भी एक से एक बढ़कर आकर्षक–सुन्दर बनाई जा रही है, दर्शकों को आकर्षिक करने की नई नई युक्तियों के अनुसार कला पूर्ण की जा रही है और उस धन का अधिकतर जन सेवा सहायता में व्यय न होकर मन की विलासिता में ही अपव्यय हो रहा है। जो भगवान एवं देवता देवी के मन्दिर ध्यान सिद्धि, ज्ञान जाग्रति, सद्भाव विकास और शान्ति सिद्धि के साधना स्थल होने चाहिये वही मन्दिर धनोपार्जन मनोरंजन एवं सभ्यता पूर्वक समय काटने के स्थल बने हुए हैं।

हम अनेकों भावाभिमानी जन प्रथम तो भगवान को पसन्द करते हैं, पुनः उनकी मूर्ति बनवाते हैं, और मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठा करते हैं, किन्तु भगवान की ओर से बने बनाये देह

मन्दिर में हृदय रूपी सिंहासन में प्रथम से ही प्रतिष्ठित भगवान की उपासना, आराधना, सेवा पूजा के लिये भगवान की बतायी गई साधना को स्वीकार नहीं करते, यही अहंकार की क्रीड़ा है इस अहंकार को हम सभी साधक प्रभु कृपा से मिले सत्संग द्वारा देख सकते हैं।

परमात्मा ही सर्वमय है, उसी की सत्ता से सब प्रकार की गतियां हो रही हैं। ज्ञान में जिनकी अन्तर दृष्टि खुली है वे प्राणिमात्र में, अथवा अंग–प्रत्यंग में परमात्मा की शक्ति का अनुभव करते हैं। सन्ध्योपासना अथवा पूजा पद्धति में अंगन्यास, करन्यास आदि का जो विधान है वह निरन्तर सब कुछ के पीछे परमात्मा के दर्शन का एक अद्भुत विज्ञान है।

आज हम अनेकों सन्ध्योपासना अथवा पूजा करने वाले न्यास के मन्त्रों को नित्य यन्त्रवत् रट लेते हैं और हाथों के द्वारा भावार्थ शून्य क्रिया को दुहराते रहने के अभ्यासी हो रहे हैं परन्तु ज्ञान में नित्य प्राप्त परमात्मा का अनुभव नहीं कर पाते यह अहंकार नित्य पूजा पद्धति को पूर्णकर के सन्तुष्ट हो जाता है पर जो होना चाहिये वह नहीं होता।

हमें समझाया गया है कि संसार में जो कुछ भी नाम रूपमय दृश्य दीख रहा है उसका सनातन स्वामी परमात्मा है उस परमात्मा से विमुख रहकर अज्ञानवश यह अहंकार मिली हुई देहादिक वस्तुओं को अपनी मानकर अभिमानी, लोभी, मोही बन गया है। अहंकार की इस आसुरी भावना को नष्ट करने के लिये नित्य सर्वमय परमेश्वर की अनुभूति के लिये तत्व वेत्ता मुनियों ने न्यास की विधि स्वीकार की है।

कर्म विज्ञान में अंगन्यास, करन्यास, व्यापकन्यास यह तीन न्यास मुख्य हैं।

अंगन्यास द्वारा यह अनुभव किया जाता है कि यह शरीर जो अपना प्रतीत होता है, वास्तव में यह मेरा नहीं है, क्योंकि इसमें मैंने कुछ भी नहीं बनाया, इसीलिये इस पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, इस शरीर का मिलना–छूटना सब कुछ ईश्वर के विधानानुसार निश्चित है।

अंग प्रत्यंग में ईश्वर की सत्ता की अनुभूति और अहंता ममता का त्याग ही अंगन्यास का प्रभाव है।

करन्यास द्वारा सर्वत्र ब्रह्म की प्रकृति को देखने की योग्यता आती है, ऐसा बोध होता है कि मैं कर्ता नहीं हूं; समस्त कर्म प्रकृति द्वारा हो रहे हैं– इस अनुभूति से यह अहंकार अभिमान से रहित होता है।

व्यापकन्यास द्वारा सर्वत्र ब्रह्मानुभूति की योग्यता सुलभ होती है। समस्त जीव जगदाकार में भगवान की ही मूर्ति हैं, अथवा भगवद् विकास हैं; इस जगन्मूर्ति के भीतर परमात्मा नारायण के अस्तित्व और उनकी लीला को देखना प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में परमात्मा को, परमानन्द को प्रतिष्ठित अनुभव करना, व्यापकन्यास का प्रभाव है।

परमात्मा अनन्त रूपों में अभिव्यक्त हो रहे हैं– इस भाव दृष्टि को लेकर सब के प्रति प्रेम, सबकी सेवा रूप भजन सुलभ होता है।

अपने परमप्रेमास्पद भगवान की निष्काम भाव से सेवा को ही विद्वान जन पूजा कहते हैं। भगवान का निर्णय है कि सब प्रकार के कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा साधित होते हैं परन्तु अज्ञान में अहंकार से विमूढ़ जीव अपने को कर्ता मान रहा है। गीता –3।27

अहंकार से मूढ़ जीव को सेवा करते हुए कर्तापने का अभिमान न हो, इसीलिये अनुभवी महात्मा न्यास की विधि द्वारा अपने शरीर के प्रत्येक अंगों में परमेश्वर की ही शक्ति को प्रतिष्ठित देखने का अभ्यास दुहराते हैं।

भगवान के विधान से मिले हुए शरीर, मन, बुद्धि आदि द्वारा भगवान के लिये सब कर्म करना और कर्ता न बनना–यही सम्यक् पूजा की पद्धति है।

यह भी भगवान का निर्णय है कि जब यह द्रष्टा उदासीन भाव से त्रिगुण प्रकृति से भिन्न अन्य कर्ता नहीं देखता और गुणातीत आत्मा को जान लेता है तब यह ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है। (गी0 14।19)

अपने समस्त कर्मों द्वारा विश्व रूप मूर्ति में पूजा करने वाले प्रेमी भक्तों की सम्मति है कि यह शरीर इन्द्रियाँ एवं आत्मीय सम्बन्धी जन तुम्हारे नहीं हैं, तुमने इन्हें बनाया भी नहीं है, तुम्हें जो कुछ मिला है, जिनका संयोग है उन वस्तुओं तथा स्वजनों पर स्वतन्त्र अधिकार भी नहीं है।

तुम्हें जो कोई अपने प्रिय सम्बन्धी दिखते हैं, यह कोई तुम्हारे संग भी नहीं जायेंगे अतः सब से अनासक्त रहकर, सब कुछ के स्वामी ईश्वर के ही अनुरागी होकर ईश्वर के ही सबको मानकर, सबकी प्रीतिपूर्वक सेवा करते रहो।

बुद्धि दृष्टि से देखो तो यह शरीर मूल रूप में एक श्वेत बिन्दु था किन्तु परमेश्वर के विधान से यह एक सुन्दर शक्ति सम्पन्न, कर्म करने में कुशल देह के रूप में दिख रहा है, इसमें तुमने कुछ भी नहीं किया इसीलिये इस देह एवं इसके द्वारा होने वाले कार्यों में मिथ्याभिमान करना महा मूढ़ता है।

अब तुम सद्विवेक का आश्रय लेकर इस देह रूप यन्त्र के स्वयं स्वामी न बनकर, ईश्वर को ही यन्त्री जानकर, सर्वभाव से हृषीकेश परमात्मा का आश्रय लिये रहो।

तुम वह दृष्टि प्राप्त करो जिसके द्वारा अपने आप के रूप में एक मात्र परमप्रभु परमात्मा की लीला का दर्शन कर सको। अपने साथ आत्मीय स्वजन, बन्धु–बान्धव, शक्ति–सम्पत्ति के रूप में परमात्मा की ही कृपा का, दया का अनुभव करो। इन सब के आदि में, मध्य में, अन्त में परमात्मा को परमाश्रय समझ कर आनन्दित होते रहो।

ज्ञान में दर्शन करने वाले महात्मा यही दिखा रहे है कि तुम परमेश्वर के ही प्रतिबिम्ब हो। तुममें जो बल है, बुद्धि है, कला है, ज्ञान, विज्ञान है, इन सर्व रूपों में परमप्रभु ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। प्रभु के द्वारा ही श्रवण, दर्शन, ग्रहण, ध्यान, तप, त्याग सब कुछ हो रहा है।

इस देह को प्रभु की ही दी हुई जानकर इसमें उन्हीं को प्रतिष्ठित अनुभव करो। वह प्रभु ही अपनी कृपा से तुम्हें कल्याण पथ में लिये जा रहे हैं। उन्हीं के विधान से तुम्हारी कामनायें पूरी हो रही हैं और उनके त्याग की प्रेरणा भी हो रही है।

जिस प्रकार विद्युत शक्ति से अनेकों प्रकार के यन्त्र चलते हैं उसी प्रकार यह मन, बुद्धि, चित्त आदि भगवान की चेतना से गतिशील हो रहे हैं।

तुम इस अहंकार के पीछे, बुद्धि, मन के पीछे परमात्मा को ही देखो।

भगवान की पूजा का यही अभिप्राय है, कि जिसके हम भोगी बने हैं उसे भगवान के विश्वरूप की सेवा में लगा दें; इस प्रकार की पूजा के द्वारा हम साधकों के भीतर रहने वाली अहंता, ममता, आसक्ति, कामना का अन्त होता है।

जिस प्रकार, भोजन वही है जिससे क्षुधा मिट जाये, जल वही है जिससे प्यास बुझ जाये, उसी प्रकार पूजा वही है जिससे अहंकार की ग्रन्थि खुल जाये और अहंकार, अभिमान से शून्य हो जाये।

पूज्य भाव जाग्रत होते ही अभिमान घटने लगता है अहंकार झुकने लगता है और बिखरी हुई प्रीति पूज्यास्पद प्रभु में केन्द्रित होने लगती है। पूजा द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर कोई पूजा की वस्तु अपनी नहीं रह जाती, सब कुछ उन्हीं का दिखते ही पूजा करने वाला, पूजा का कर्ता नहीं रह जाता। सर्व भावेन अपने को प्रभु में अनुभव करता है, इसे ही आत्म निवेदन कहते हैं।

हमें यह ज्ञात हो सका कि जो एक धातु की मूर्ति में ईश्वर अथवा पूज्य देव को देखते देखते विश्व की समस्त मूर्तियों में पूज्यास्पद प्रभु के दर्शन पाता है और सर्व रूप में प्रभु को प्रतिष्ठित देखकर सब की सेवा में तत्पर रहता है, बदले में कुछ नहीं चाहता है वही पूर्ण पुजारी है।

भजन

सुसंग अथवा सुसंस्कार से प्रेरित होकर हमने भजन करने का नियम बनाया। अपने निश्चित समय पर भजन आरम्भ और समाप्त होता रहा।

हम सन्तुष्ट थे कि नित्य नियम से भजन चल रहा है। भजन न करने वालों को प्रायः अपने जैसा भजन करने का उपदेश भी देते थे।

बहुत समय बीतने पर ज्ञात हुआ कि जो कुछ भी हम नाम जप करते हैं या भक्तों के गाये हुए गीतों को गाते हैं, यही भजन नहीं हैं, यह तो शुभ कर्म हैं। इससे पवित्र भावना की जाग्रति होती है। सम्बन्ध जुड़ता है।

जप करते हुए, गीत गाते हुए यदि भगवान के ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य का मनन चिन्तन नहीं चलता तो भगवदाकार वृत्ति भी नहीं बन पाती। जप की संख्या पूरी होने पर अहंकार को सन्तोष अवश्य हो जाता है और भगवान से सम्बन्धित गीत गान से यदि श्रोता प्रसन्न हो

गए तो मान का रस तो मिलता रहता है परन्तु ऐसे भजन से वर्षों बीत जाने पर भी भगवान नहीं मिलता है; कदाचित धन तथा भोग एवं सम्मान की प्राप्ति होती रहती है।

सन्तों के मतानुसार भाव से ही नहीं, कुभाव अनख आलस्य से भी भगवन्नाम लेने से मंगलमय अवसर अवश्य ही आते रहते हैं।

नाम जप अथवा कीर्तन भगवद् गीत गान के फल से अनेकों मंगल अवसर सामने आते हैं और उन्हीं के द्वारा हम जान सके कि भगवद् भजन का स्वरूप क्या है।

भजन उसे कहते हैं जिसका आरम्भ होने के पश्चात् अन्त ही नहीं होता। जीवन में समस्त कर्म, समग्रभाव, समस्त सद्विचार एवं हृदय की प्रीति सब कुछ भजन की पूर्णता के साधन बन जाते हैं। परमगुरु भगवान का निर्णय हैः—

यो मामेवमसंमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।। (गी0 15।19)

"हे भारत! इस प्रकार तत्व से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है।"

जब तक हमारे भाव में भेद है अर्थात् इसी मूर्ति में भगवान है इसी मन्दिर में इसी तीर्थ में, इसी रूप में भगवान है और सर्वत्र नहीं है ऐसी भेद भावना में सर्व भाव से भजन अर्थात् सेवा नहीं होती है। हमारे भीतर का भेद भाव ही हमें कहीं रागी, कहीं द्वेषी, कहीं दानी, कहीं कृपण, कहीं सरल, कहीं कठोर, कहीं प्रेमी, कहीं हिन्सक बनाये रहता है इसीलिये हम साधक पाप—पुण्य के, शुभ—अशुभ के द्वन्द्व से मोहित रहते हैं।

परमगुरु भगवान ने निर्णय कर दिया है, जब मन में किसी अन्य का प्रभाव नहीं रहता तब परमप्रभु का निरन्तर स्मरण रहता है निरन्तर स्मरण से ही योग की सिद्धि होती है। जो सतत नित्य स्मरण रखता है वह नित्य युक्त है।

जब चित्त में किसी अन्य का चिन्तन नहीं होता तब परम प्रभु का अनायास चिन्तन चलता है, तभी भक्ति सुलभ होती है।

जब कोई अन्य विषय वासना नहीं रहती तभी अनन्यभाव से परमप्रभु की उपासना सुलभ रहती है।

जब किसी अन्य वस्तु व्यक्ति में आसक्ति नहीं रहती तभी अनन्यभाव से दुराचारी मनुष्य भी शीघ्र सदाचारी, धर्मात्मा हो जाता है।

जब किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं रहता तब अनन्य भक्ति भावना से परमप्रभु का ज्ञान सुलभ हो जाता है। जब अन्य संयोग का भोग शेष नहीं रहता तभी अनन्य योग से ध्यान में दर्शन सुलभ हो जाता है। जब किसी अन्य की कामना नहीं रह जाती तभी अव्यभिचारिणी भक्ति की पूर्णता हो जाती है।

परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण, चिन्तन, ध्यान अथवा किसी का संयोग, भोग, वियोग ही अनन्य भाव, अनन्य भक्ति में बाधक बना रहता है।

हम साधकों के मन में जब तक भेदभाव है, भजन पूर्ण नहीं होता। जब तक जीवात्मा परमात्मा में भेद है, मनुष्यात्मा और विश्वात्मा में भेद है, उपास्य और उपासक में भेद है, व्यवहार में विषमता है, विषम दृष्टि है, प्रीति में व्यभिचार है, सुख का लालच एवं दुःख का भय है, तब तक अनन्य भाव की प्राप्ति नहीं होती है।

भगवान के प्रति अनन्य प्रेम की सिद्धि के लिये, कर्तव्य का पालन होने के लिये, भगवान के आदेशों का पालन करते हुए जिन जीवों से अपना सम्बन्ध हो उनकी सेवा, तथा शास्त्र विधि अनुसार आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है।

हमारे साथ जहाँ तक पशु अंश है वहाँ तक भोग की कामना प्रबल रहती है। जो राक्षसी अंश है उसमें लोभ की प्रबलता रहती है। जो दानवी अंश है उसमें मान पाने की तृष्णा प्रबल रहती है। मानवी अंश की प्रबलता में धर्माचरण और सत्य को पाने की जानने की अभिलाषा प्रधान रहती है। जहाँ दिव्य अंश है वहीं परमात्मा के प्रति अनन्य भक्ति की प्यास रहती है।

जो साधक भगवान के बिना कहीं चैन नहीं पाता उसे ही भगवान सुलभ हो जाते हैं।

हमने अज्ञानवश केवल नाम जप को ही भजन मान लिया था। अनेकों उपदेशकों ने हमें यही बताया और जैसा सुना और माना, वैसा हमने भी दूसरों को सुनाया। प्रायः अनेकों उपदेशक, रोचक प्रवचनों के द्वारा श्रोताओं को रिझा ले जाते हैं श्रोताजनों को जो बात प्रिय लगती है उसे मान लेते हैं और मान्यता के मोह वश यथार्थ निर्देश–संदेश सुनना भी नहीं चाहते।

प्रायः जप करते–करते जीवन बीत जाता है, अन्त में जप करने की शक्ति भी नहीं रह जाती फिर भी लोभ मोहादि दोष नहीं मिटते। जप के द्वारा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति तो प्रतीत होती है पर कामनाओं की निवृत्ति नहीं हो पाती, इसका आशय यह नहीं है कि जप करना व्यर्थ है अथवा जप नहीं करना चाहिये।

जप भी एक यज्ञ है, जप से सिद्धि मिलती है– जब भाव सहित लगन के साथ अधिक से अधिक किया जाता है। इतना जप करना चाहिए कि व्यर्थ के लिये समय बचे ही नहीं।

यह समझ लेना है कि जप मात्र भजन नहीं है। भगवान की सर्वभाव से सेवामयी प्रवृत्ति ही भजन है। भजन वही है जिससे भगवदाकार वृत्ति विषयाकार नहीं बन पाती।

परमगुरु भगवान ने अपनी प्रकृति जीवरूप से परा प्रकृति और आठ प्रकार की अपरा प्रकृति का वर्णन किया है। प्रकृति का अर्थ है कि शरीर जिस प्रकार निराकार जीवात्मा का साकार शरीर है उसी प्रकार निराकार परमात्मा का यह विश्वरूप में साकार शरीर है।

जो साधक बुद्धि दृष्टि से परमात्मा के विश्वरूप अखण्ड एकरस साकार विराटरूप को जान लेता है और उसी विराटरूप में अपने को भी देखता है तब सर्वभाव से ईश्वर की शरण में अपने को अनुभव करते हुए सर्वभावों को परमात्मा से ही प्रकाशित देखता है तभी सर्वभाव

से परमात्मा परमेश्वर के विराट रूप की अर्थात् विश्वरूप की सेवा करते हुए परम तृप्ति, परमआनन्द का आस्वाद लेता है– यही सर्वभाव से परमात्मा परमेश्वर का भजन है।

जब तक साधक परमेश्वर से अपने आप को पृथक मानते हैं, संसार में परस्पर मानव समाज में भेद–भाव रखते हैं, तब तक भगवान के ही मतानुसार सर्वभाव से उनको नहीं जानते और इसीलिये सर्वभाव से उनका भजन नहीं कर सकते।

परमात्मा से विमुख होकर कर्ता भोक्ता बनने वाला यह अहंकार ही है, यह अहंकार ही अपनी कृतियों से सन्तुष्ट रहता है। यह अहंकार ही परमेश्वर की सृष्टि में अपनी क्षुद्र सृष्टि रचकर सुख से तृप्त होना चाहता है, स्वतन्त्रता का आनन्द लेना चाहता है, परन्तु प्रभु के विधान से जब बारबार सुख के पीछे दुःख भोगता है तब अशान्त होकर शान्ति की पुकार करता है तभी प्रभु अपनी करुणा से इसके सामने सनातन ज्ञान में कर्तव्य का, धर्म का, बन्धन से मुक्ति का, दुख से छूटकर शाश्वत शान्ति की दिशा दिखाते हैं फिर भी यह अहंकार अपनी मान्यता के मोह को नहीं छोड़ना चाहता तब भगवान सावधान करते हैं कि 'तू मनसे ही मुझ परमेश्वर में सब कर्मों को समर्पण करके मुझ परमेश्वर में स्थिर रहकर, बुद्धियोगी होकर परमेश्वर में ही चित्त लगा दे; ऐसा करने से तू सब दुर्गों को पार करेगा, यदि अहंकार वश नहीं सुनेगा तो विनाश को भोगेगा'। (18 ⁄ 57–50)

हम लोग अपने को भगवद् भक्त मानते हैं, भगवान के प्रति प्रार्थना भी करते हैं, परन्तु अज्ञानवश अपनी ही सुनाते रहते हैं पर भगवान जो कुछ कहते हैं वह नहीं सुनते और सुनते भी हैं तो तदनुसार आचरण में नहीं लाते।

जब अहंकार परमात्मा से विमुख रहकर अपनी पूजा चाहता है तभी भोगी–रोगी बनकर दुःखरूपी दण्ड सहता है।

जब अपने किसी प्रकार के बल से दुख दूर नहीं कर पाता है तब दुःखहारी हरि परमात्मा की शरण लेता है किन्तु अज्ञानवश परमेश्वर की किसी एक स्थान में, किसी विशेषमूर्ति में मान्यतानुसार कुछ फल, फूल, दीप धूप द्वारा पूजा करते हुए आशा रखकर धनार्थी, भोगार्थी, विद्यार्थी, संयोगार्थी बनकर अपनी पूर्ति चाहता है।

ईश्वर भाव से कोई अज्ञान से भी किसी वृक्ष में, नदी में, तीर्थ में, मूर्ति में, अग्नि में यदि पत्र, पुष्प, दीप, धूप नैवेद्य अर्पण करता है तो सर्वव्यापक परमेश्वर तो देखता ही है कि मेरे नाम से अपनी भावनानुसार पूजा, प्रार्थना, स्तुति, आराधना कर रहा है, इसीलिये प्रत्येक पूजक की भावना के अनुसार उसी पूज्य पात्र की ओर से उत्तर भी मिलता है और ईश्वर की ही सत्ता से मिलता है।

एक बालक अज्ञानवश किसी धातु की मूर्ति को ही ईश्वर मानकर प्रार्थना करता है तो वह ईश्वर वहीं से उस प्रार्थना को सुनता है। वही बालक उस मूर्ति के अतिरिक्त ईश्वर को नहीं मानकर सभी प्राणियों एवं मनुष्यों से भेद–भाव रखकर छल, कपट, द्वेष, क्रोध, हिंसा करता है तो उसे पाप कृत्यों का परिणाम भी सर्वव्यापक ईश्वर के विधान से भोगना पड़ता है।

यह अहंकार धन, मान तथा भोग की तृष्णा के कारण संसार में बहुत कुछ पाकर भी दीन, हीन, दरिद्र ही रहता है। अहंकार सदा ही भिखारी रहता है। मांगता ही रहता है। अहंकार उसी को अपना मानकर मोही बनता है जिससे कुछ पाता रहता है और आशा रखता है। अहंकार उस परमात्मा से विमुख रहता है जिससे तन मन आदि सब कुछ मिला है।

जब तक जीवन में किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति मेरा पन रहेगा तब तक अहंकार का 'मैं' पुष्ट होता रहेगा। अहंकार जब तक संसार का आश्रय लेता रहता है तब तक परमाश्रय परमात्मा से विमुख रहता है।

निराश्रय चित्त अनायास ही परमाश्रय प्रभु को पा जाता है।

जहाँ अहंकार नहीं है, वहीं परमात्मा है। वहीं शान्ति है, (वहीं आनन्दानुभूति है)। दरिद्र अहंकार सेवा भजन नहीं कर पाता, सेवा भजन के नाम पर कुछ करता भी है तो लेने के लिये करता है। यह अहंकार पूजा की ओट लेकर अपनी पूजा चाहता है, अपना भजन प्रिय लगता है।

परमगुरु ज्ञान में देखते–देखते यह भी ज्ञात हुआ कि सेवा के लिये अर्थात् भजन के लिये अटूट साहस परम सहायक होता है। इस तरह के त्याग का बल होता है। साहस में मान, धन, लोभ, आसक्ति का सत्य के प्रेमी में ही त्याग का साहस होता है।

जो तन को श्रम के लिये, इन्द्रियों को संयम के लिये, तथा मन को दृढ़ संकल्प के लिये, बुद्धि को विवेक के लिये, अपने आप को समर्पण के लिये नहीं साध पाता वह भजन में पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता।

अहंकार को समर्पित करने के लिये कोई प्रयास नहीं करना होता केवल इसे जान लेने से ही समर्पण पूर्ण हो जाता है।

अहंकार के लिये परमात्मा दूरातिदूर है किन्तु जो ज्ञान में देखते हैं उनके लिये परमात्मा निकटातिनिकट वहीं है जहाँ अहंकार है। जो परमात्मा सर्वत्र है, सर्वदा है, सर्वमय है उसे कहीं जाकर खोजने से नहीं पाया जा सकता। जो परमात्मा को खोजते हैं वह भजन नहीं कर पाते। भजन की पूर्णता के लिये जिस प्रेम की आवश्यकता है, वह अहंकार की आसक्ति से ढका हुआ है।

कोई शिष्यों से सेवा लेने वाला शिष्यों का अभिमानी एवं आलसी श्रद्धास्पद, सेवा नहीं कर पाता।

कोई लोभी, धन सन्चय करने वाला व्यापारी, सेवा नहीं कर पाता।

कोई क्रूरकर्मी कठोर अभिमानी डाकू, सेवा नहीं कर पाता।

कोई मांस बेचने वाला हत्यारा कसाई सेवा नहीं कर पाता।

कोई मन्दिर में पूजा करने वाला आलसी पुजारी सेवा नहीं कर पाता।

कोई वेषधारी दूसरों के सामने साधु सिद्ध बनकर अपनी पूजा कराने वाला सकामी, सेवा नहीं कर पाता।

किसी प्रकार का लोभ, अभिमान, तथा काम एवं आलस्य और अहंकार सेवा अथवा भजन की पूर्णता में बाधक रहता है। हम साधकों को किसी सीमा तक त्याग, तप, ज्ञान ध्यान आदि साधना का अहंकार रहा करता है। हम अनेकों साधक बहुत समय तक नहीं जानते कि साधक में जो शुद्ध अहंकार है यह शुद्ध विष की भाँति होता है।

भगवान का निर्णय है कि अहंकार के रहते विनाश को भोगना पड़ता है।

हमें यह भी समझाया गया है कि जो रागी, विरागी बनना चाहता है जो आसक्त, विरक्त होना चाहता है जो मोही, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ का त्याग करना चाहता है, वह अहंकार ही है। जब तक अहंकार कुछ बनता है तब तक हिंसक है।

जो कुछ बनना चाहता है, जो कुछ भी होना चाहता है, वह अहंकार ही है। अहंकार को देखना ही उससे मुक्त होने का उपाय है। काम क्रोध का दमन करते हुए, क्षमा करते हुए, दान करते हुए जो दूसरों की ओर देखता है, वह अहंकार ही है। यह अहंकार कुछ करते हुए मिटता नहीं प्रत्युत पुष्ट ही होता है।

परमगुरु भगवान का निर्णय है कि जो अहंकार विशेष मूढ़ है वही अपने को कर्ता मानकर सन्तुष्ट होता है। अहंकार से मूढ़ मानव, दर्शन से वंचित रहता है।

अहंकार के कारण ही मानव–हृदय अति कठोर बना रहता है। जो कठोर है, कृपण है वह भजन नहीं कर सकता।

भजन के लिये तो हृदय अत्यन्त सरल विनम्र होना चाहिये।

परमात्मा के दर्शन की अभिलाषा रखने वाले हम साधकों को समझाया गया है कि:–

परमेश्वर के नाम चाहे जितने लेते रहो, कितने ही रूपों में उस विश्वरूपमय प्रभु को देखते रहो पर यह ध्यान रखना कि परमेश्वर परमात्मा एक ही है। एक परमेश्वर के दर्शनद्वार अनेक हो सकते हैं और किसी द्वार तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ अनेकों हो सकती हैं इसीलिये सावधान रहना! किसी सीढ़ी में ठहर न जाना, कदाचित सीढ़ियों को पार कर द्वार में पहुँच जाने पर, कहीं द्वार में न रूक जाना। जिधर से गए हो उधर न देखकर अपने समक्ष देखना और देखते देखते देखने वाला कौन है, कहाँ है, इसका समाधान करना।

तुम स्वयं ही दर्शन के द्वार हो इसीलिये अपने आप में शान्त स्थिर होकर देखने वाले को जान लो।

केवल कुछ देर जप करते हुए कीर्तन करते हुए, कुछ देर प्रार्थना पूजा पद्धति को नियम से निभाते हुए अपने को भक्त न मान बैठो।

कोई प्रेमिका पत्नी अपने पति का नाम माला से नहीं जपती, कोई सेवक अपने स्वामी का नाम नहीं जपता रहता फिर भी अपने पति को अथवा अपने स्वामी को निरन्तर स्मरण

रखते हुए अपने सेवा कर्तव्य में तत्पर रहना ही इनका भजन माना जाता है। इस प्रकार की सेवारूपी भक्ति में स्वामी सन्तुष्ट होता है।

नाम जप, या नाम कीर्तन मात्र से कोई पत्नी को, कोई पुत्र अपने पिता को, कोई शिष्य अपने गुरु को, कोई सेवक अपने स्वामी को पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं देखेगा, इसी प्रकार साधक जन भगवान का नाम जप करते हुए अथवा कीर्तन करते हुए यदि भगवान के उपदेश आदेशानुसार सत्कर्म नहीं करते अर्थात् पाप कर्मों का त्याग करते हुए पुण्य कर्म नहीं करते, दुष्टता दुराचार से बचकर साधु स्वभाव एवं सदाचार का पालन नहीं करते तब तो हम भगवान के प्रिय भक्त नहीं हो सकते। उनका भजन नहीं कर सकते।

जहाँ कहीं हम किसी से द्वेष करते हैं, सबको प्रभु की ही आत्मा जानकर हम सब के प्रति मित्र भाव नहीं रखते, जहाँ तक मिले हुए को अपना मानकर ममता बढ़ाते हैं, घमण्ड करते हैं, सुखद के प्रति राग, दुखद से घृणा रखते हैं, जहाँ कहीं हम क्षमा के विपरीत क्रोध करते हैं, जहाँ कहीं हम असन्तुष्ट रहते हैं, जहाँ तक हम भोगी असंयमी, और कर्तव्य पालन में दृढ़ नहीं रह पाते, जहाँ तक मन से तन धन भोगों में आसक्त है तथा बुद्धि को आत्मा में स्थिर नहीं करते वहां तक प्रभु के प्रियता के अधिकारी नहीं हो पाते।

जहाँ तक दूसरों को आघात पहुँचाते हैं, किसी को उद्विग्न करते हैं और दूसरों के व्यवहार से हम उद्विग्न होते हैं, तथा जब तक हम कभी बहुत हर्षित, कभी शोकित, कभी भयातुर होते हैं, तब तक हम भगवद् प्रीति का आस्वाद नहीं कर पाते।

जब तक हम इच्छाओं की पूर्ति में ही व्यस्त रहते हैं, अपवित्र रहते हैं, सेवा कार्य कुशलता पूर्वक कर नहीं पाते, सबसे उदासीन रहकर, व्यथा रहित होकर निष्काम नहीं हो पाते, किन्तु धन के लिये, मान के लिये, भोग के लिये नयी–नयी योजनायें आरम्भ करते हैं, तब तक हम भगवान को प्रिय नहीं हो सकते।

जब तक हम लाभ में हर्षित और हानि में शोक करते हैं, किसी से कुछ पाने की आशा करते हैं, शुभ–अशुभ के रागी, द्वेषी हैं, तब तक प्रभु को प्रिय नहीं हो सकते।

जहां कहीं हम पर शत्रु–मित्र का प्रभाव पड़ता रहता है, मान–अपमान, सर्दी–गर्मी में सुख–दुःख में विषय भाव रहता है, जहाँ तक भोगों में आसक्ति है, निन्दा से खेद और स्तुति सुन कर हर्षाभिमान बढ़ता है, जहाँ तक हम मौन, शान्त नहीं हो पाते, वहाँ तक हम भगवान के प्रेम का अनुभव नहीं कर सकते। जहाँ तक हम असन्तुष्ट हैं, जहाँ तक अपने लिये कोई आश्रय, घर बनाये हुये हैं, जहाँ तक बुद्धि चंचल है वहाँ तक हम प्रभु प्रेम से वंचित ही हैं।

जब तक हमारी श्रद्धा तामसी राजसी है, हम ज्ञान रूप गुरु भगवान में श्रद्धा नहीं रख पाते, जहाँ तक धर्म रूप अमृत का ही सेवन नहीं करते हुए विषय विष का सेवन करते हैं और परमात्मा से विभक्त हैं, वहाँ तक भगवद् प्रेम के अधिकारी ही नहीं हैं।

जहाँ तक हमें नेत्रों से दिखने वाले शरीर, धन, भवन, भूमि आदि पदार्थ ही अपने निकट प्रतीत होते हैं परमात्मा को कहीं दूरातिदूर मान बैठे हैं, यही विभक्ति है और जब हम साधकों को परमात्मा का नित्य निरन्तर अनुभव प्राप्त होता है तब भिन्नता भेद रह ही नहीं जाता है और यही भक्ति है।

जब हमारी प्रीति किसी वस्तु या सम्बन्धी में अटकी न रहेगी तभी वह भगवान तक पहुंचाकर हमें भक्त बना देगी।

जब हमारा ज्ञान सांसारिक पदार्थों की प्रीति में नहीं अटकेगा तब उस ज्ञान में हम अपने को परमात्मा से अभिन्न देखेंगे।

प्रकृति ही परमात्मा को छिपाये हुए हैं। यदि हम प्रकृति आवरण को हटा कर देखें तो प्रभु के ही अनुपम सौन्दर्य का दर्शन होगा।

पूर्ण प्रेम में ही भक्ति पूर्ण होती है। निर्विकार को पा लेने पर विकार नष्ट हो जाते हैं, प्रकाश पा लेने पर अन्धकार हटाने का श्रम नहीं करना होता। यही भगवान के भजन का परम फल है।

परमगुरु भगवान के वचनों में भक्ति अथवा नित्य योग की अनुभूति के लिये निम्नाकिंत आदेश हैंः–

(1) ईश्वर के अवतार तथा कर्म के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करो। (ईश्वर का अवतरण साधुओं की रक्षा के लिये धर्म संस्थापना के लिये और दुष्टों के विनाश के लिये होता है यह विवेक पूर्वक समझ लो।)

(2) आत्मा का ज्ञान अर्थात् क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान प्राप्त करो।

(3) जगत में ईश्वर के विश्व रूप दर्शन की दिव्य दृष्टि प्राप्त करो।

(4) ईश्वर को अभिन्न जानकर प्रेमाभक्ति पूर्ण करो।

(5) ईश्वर की सत्ता से प्रकृति के द्वारा ही सब कर्म होते हुए देखो कर्ता न बनो; द्रष्टा होकर साक्षी होकर रहो।

(6) आन्तरिक अहंता, ममता, कामना, आसक्ति का त्याग करके परमात्मानुभव द्वारा सन्यास को पूर्ण करो।

(7) ईश्वर में ही प्रेम–योग द्वारा तल्लीन रहो।

(8) सर्व में ईश्वर की विभूति को जानते हुए नमन करते रहो।

(9) ईश्वर और अन्तरात्मा के निरन्तर योग का अनुभव करो।

(10) इन्द्रियों में संयम रक्खो।

(11) फलाशा त्यागकर कर्तव्य कर्मों को पूर्ण करते रहो।

(12) सर्वत्र समभाव को दृढ़ करो।

(13) ईश्वर की भक्ति के लिये, ईश्वर को दूर मानने की कल्पना छोड़ दो। निरन्तर अपने को अभेद अनुभव करो।

(14) ईश्वर को ही सर्व में व्यापक जानकर सर्वहित में ही तत्पर रहो।

(15) ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ लगन न टूटने दो।

(16) ईश्वरीय आदेश, सन्देश, निर्देश को अधिकारी मनुष्यों को सुनाते रहो।

संसार में जो भक्ति योगी महात्मा हैं उनमें उपरोक्त दिव्य लक्षण मिलते हैं। ईश्वर की भक्ति के लिये, नित्य योग की अनुभूति के लिये साधक ईश्वर की ओर से स्वतन्त्र है परन्तु अज्ञानवश अपने आप ही परतन्त्र हो रहा है।

हम साधकों को पराधीन परतन्त्र बनाये रहने वाली अपने अहंकार द्वारा स्वीकार की हुई कामनायें तृष्णाएँ तथा आसक्तियाँ हैं, इनसे मुक्त होते ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।

यह अहंकार ही सदा ईश्वर से विमुख रहकर अपनी सृष्टि से बाँधता है।

यह अहंकार ही रोग है दुःखों का कारण है, अज्ञान में ही यह जीता है, ज्ञान में जाग्रत सावधान होने पर इस अहंकार की असत्यता का पता लगता है।

आत्म ज्ञान में ही अभावग्रस्त, अहंकार से मुक्ति मिलती है और अहंकार से मुक्ति मिलते ही भक्ति सुलभ हो जाती है।

भजन में विघ्न

(1) सर्वत्र मान प्रतिष्ठा (2) ख्याति की वृद्धि होते जाना (3) धन का लाभ होते जाना (4) स्त्री में आसक्ति होना (5) संकल्प पूरे होते जाना (6) इच्छित वस्तु मिलते रहना, यह भजन को पूर्ण नहीं होने देते।

भजन में सहायक

(1) सहन शीलता का अभ्यास (2) समय को कहीं व्यर्थ न खोना (3) सुखोपभोग सुलभ होने पर भी इच्छा का त्याग करना (4) निरन्तर प्रभु का स्मरण (5) सदगुरु ज्ञान का आश्रय लेकर ही सबकुछ करना (6) किसी को अज्ञानी, तुच्छ, नीच, पतित मानकर अपनी श्रेष्ठता के अभिमान से सावधान रहना (7) सब कुछ प्रभु से ही होते हुए देखना (8) सदा सम, शान्त प्रसन्न रहना (9) विरक्तों का संग (10) सदैव प्रेम में प्रफुल्लित रहना (11) प्रत्येक प्राणी तथा प्रत्येक मनुष्य एवं अपने साथ रहने वाले शरीर, मन आदि के पीछे नित्य रहने वाले चेतन आत्मा को परमात्मा से अभिन्न दर्शन का अभ्यास दृढ़ करना (12) जो कुछ भी सामने घटित हो उसे भगवान की माया लीला समझकर सदा सम और शान्त रहना (13) भगवान की गुणमयी माया को नमस्कार करते रहना (14) कहीं उत्तेजित, शोकित, व्यथित, अधीर नही होकर प्रत्येक घटना के पीछे भगवान को उपस्थित जानकर निर्भय एवं स्वस्थ, आत्मस्थ रहने से भजन पूर्ण होता है।

भगवान के तीन कार्य

(1) साधुओं का उद्धार और उनकी सुरक्षा (2) दुष्टों का विनाश (3) धर्म की स्थापना।

ये तीन कार्य परमेश्वर के हैं, जिस किसी को परमेश्वर की सेवा करनी हो अर्थात् भजन पूर्ण करना हो तो उसे यही तीन कामों को करना चाहिये :

अब देखना यही है कि ईश्वर जगत में साधुओं का उद्धार करता है, दुष्टों का नाश करता है और जगत में धर्म की संस्थापना करने के लिये अवतार लेता है। हम साधक क्या साधुओं का परित्राण कर सकते हैं ? क्या हम दुष्टों का नाश कर सकते है? क्या हम जगत में धर्म की स्थापना कर सकते हैं? क्या ऐसा करने की शक्ति योग्यता है? कदापि नहीं; फिर भी हम यदि अपने में ही साधुता की रक्षा करते रहें, अपने भीतर की दुष्टता को नष्ट कर दें और अपने में धर्म की स्थापना कर लें तब तो हम साधु प्रकृति के द्वारा असाधु वृत्तियों अथवा दुष्ट प्रवृत्ति से रहित होकर, अपने धर्ममय जीवन द्वारा जो कुछ कर्म करेंगे वह भगवान का काम होगा। भगवान का काम करना ही भगवद् भजन है।

संसार में जो दुष्ट प्रवृत्तियों से दूर रहकर साधु स्वभाव द्वारा, सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सबकी सेवा में लगे रहते हैं उन्हीं को सर्वभूत हित में रत सुदुर्लभ महात्मा भगवान ने माना है।

जो साधक अपने में साधु स्वभाव पुष्ट कर लेता है अर्थात् अपने में साधुता की रक्षा करने में, साथ ही दुष्ट वृत्तियों के नाश में और सर्वहितकारी धर्ममयी प्रवृत्ति में भगवद कृपा का आश्रय लेकर समर्थ हो जाता है वही श्रेष्ठ पुरुष है। भगवान उसे धीर पुरुष कहते हैं– ऐसे श्रेष्ठ, धीर पुरुष ही मानव समाज में जहाँ कहीं अधर्म, अनीति, अन्याय, अत्याचार तथा सज्जनों के साथ अनाचार, छल का व्यवहार होता है वहाँ धर्म, न्याय, सदाचार, सदव्यवहार की प्रेरणा देते हैं और पराधीन, सताये जाने वालों को स्वाधीनता प्राप्त कराने के लिये जो कर्तव्य होता है उसे पूर्ण करते है।

आज भी विरक्त वीतराग समर्थ सन्त महात्मा अपने–अपने क्षेत्र में यही भगवद कार्य कर रहे हैं। महात्मागांधी आदि अनेकों नेताओं ने प्रथम अपने ऊपर नेतृत्व प्राप्त करके समाज को, देश को, स्वतन्त्र बनाया, यह भगवान का पावन कार्य किया।

जो मानव सत्पथ की रक्षा करता है, असत्पथ का नाश करता है और धर्म स्थापना के कार्य में ही प्राप्त शक्ति सम्पत्ति तथा योग्यता का सदुपयोग करता है और इसके बदले में धन मान भोग नहीं चाहता है– ऐसा निष्काम पुरुष भगवान का सेवक है, क्योंकि वह भगवान का ही कार्य करता है।

जो साधक भगवद् भजन को पूर्णतया सिद्ध करना चाहते हों, भगवद् भक्ति एवं प्रेम के अभिलाषी हों उन्हें यही तीन कार्य करते रहना चाहिये (1) अपने भीतर दुष्टता का नाश (2) साधुता की रक्षा (3) धर्माचरण। यह तीन कार्य जो साधक अपने में पूर्ण कर लेगा वही समाज में भी पूर्ण कर सकेगा।

भगवान में पूर्ण अनुरक्ति होने के लिये संसार के असार सुखों से अथवा सुखद प्रतीत होने वाली वस्तुओं से विरक्ति होना परमावश्यक है। विरक्ति तभी आती है जब प्रत्येक प्रवृत्ति धर्मपूर्वक होती है।

धर्माचरण में अधार्मिक कृत्यों का, पाप कर्मों का त्याग आवश्यक है। किन्तु अज्ञान में लोभ एवं सुखाशक्तिवश हम से पारस्परिक व्यवहार में तन से, वाणी से, मन से पाप बनते रहते हैं क्योंकि प्रायः हम अनेकों साधकों को धर्म के विषय में यथार्थ ज्ञान नहीं है।

हमें भगवान के वचनों का अध्ययन करने से यह ज्ञात हो रहा है कि कोई साधक जब अपनी सिद्धि का प्रदर्शन धन मान अथवा भोगसुख के लिये करता है तो यह भी अहंकार का पाप ही है।

किसी योगाभ्यासी में चित्तविक्षेप एक पाप ही है। किसी ज्ञानी की बुद्धि में भेद दर्शन भी पाप ही है। किसी भक्त के लिये भगवान की विस्मृति भी पाप ही है। जो साधक को अपने सद्लक्ष्य से विमुख बना दे वह पाप ही है।

समस्त पाप अहंकार के आश्रित अभिमान की सीमा में ही बनते रहते हैं। हमारे भगवान कहते हैं कि पुण्यों से पापों का अन्त होने पर द्वन्द्वातीत पुरुष भजन करता है।

येषां त्वन्त गतं पापं जनानां पुण्य कर्मणाम्।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः।। 7/28

जिन सज्जनों के निष्काम पुण्य द्वारा पाप नष्ट हो गये हैं वे ही रागद्वेषादि द्वन्द्वों के मोह से मुक्त होकर दृढ़व्रती होकर मेरा (ईश्वर का) भजन करते हैं।

भगवान् के इस निर्णय के अनुसार जब तक साधक पुण्य कर्मों के द्वारा पापों को नष्ट नहीं कर लेते तब तक सुख–दुःख, लाभ–हानि, मानापमान, संयोग–वियोगादि द्वन्द्वों के मोह में बुद्धि फँसी रहती है; इसीलिये भजन में दृढ़ हो नहीं पाते। भजन के कुछ अंश मात्र से ही अहंकार को सन्तुष्ट करते रहते हैं। भजन का ज्ञान तो हो नहीं पाता, पर अभिमान अवश्य बढ़ जाता है। इस प्रकार के भजनाभिमानी अनेकों साधक कभी–कभी दुखी, अशान्त होकर प्रश्न करते हैं कि वर्षों भजन करते बीत गये, शान्ति नहीं मिलती, भगवद कृपा का अनुभव नहीं होता है।

साधकों को सावधान होकर प्रथम विवेकपूर्वक तन, मन, धन और अधिकार से सर्वहितकारी धर्म का आचरण करना चाहिए।

धर्मयुक्त प्रवृत्ति से ही लोभ, मोह, अभिमान आदि दोषों की निवृत्ति अथवा और भोगों से विरति होती है।

परमगुरु भगवान ने काम क्रोध लोभ यह तीन पापों को नरक के द्वार बताये हैं। नरक के द्वार बहुत लम्बे चौड़े हैं जहाँ बड़ी भीड़ें, मोटरें, गाड़ियाँ, आसानी से चली जाती है।

स्वर्ग का द्वार बहुत छोटा है वहाँ भीड़े नहीं चलती। प्रेम की गली तो बहुत ही सांकरी बताई गई है वहाँ तो दो मिलकर एक साथ चलना कठिन है आगे पीछे होकर ही प्रवेश हो सकता है।

काम के कठिन पाश से संसार में कौन नहीं परिचित है, लोभ तो गले की फाँसी ही है। लोभ के साथ बड़ा पाप परिवार चलता है।

क्रोध, काम और लोभ के साथ ही अगणित इच्छायें रहती हैं, क्रोध, शठता, मोह, अभिमान, जड़ता, पर धन की स्पृहा, अविद्या, मूर्खता, धन की चोरी, परस्त्री पर बलात्कार, अकरणीय कर्म, दुःसाहस, दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली, डाह, निष्ठुरता, कठोरता, क्रूरकर्म, ऊपर से मधुर भाषण का छल, कपट आदि अनेकों पाप बनते हैं। हम साधकों को देखते रहना चाहिये कि अभी कौन कौन से पाप कितनी मात्रा में साधना में बाधक हो रहे हैं।

कहीं–कहीं कुछ पाप न होने का अहंकार पाप भयानक होता जाता है।

प्रायः जितना अधिक धन बढ़ता है। उतना ही अधिक लोभ बढ़ता है और जितना अधिक लोभरूपी पाप बढ़ता है उतना ही अभिमान पराधीनता, असहनशीलता, निर्लज्जता बढ़ती है। लोभवश जब अधिक पाप बनते हैं तब सम्पत्ति का शीघ्र नाश होता है, धर्म का क्षय होता जाता है, चिन्ता बढ़ती है, अपयश तो होता ही है, कृपणता तृष्णा को तो लोभी देख नहीं पाता, शास्त्र विरुद्ध आचरण, मद, मत्सर, दूसरों का तिरस्कार अविश्वास, कुटिलता, वाणी और मन का वेग तीव्र हो जाता है, रसना भी अधिकार में नहीं रहती, दूसरों से घृणा, अपनी प्रशंसा की भूख, दुष्कर्मों में प्रवृत्ति, प्रत्येक अवस्था में बुरे कर्मों में आसक्ति, अतृप्ति, असत मार्ग का प्रचार अन्त में रोग, दुःख पीड़ा, दुस्वप्न शोक, सन्ताप–यह सब लोभ की सीमा में पापों की सृष्टि है।

सहस्रो जन्मों से मनुष्य शरीर धारण करते–करते दुःख सन्ताप में तपते–तपते हम बुद्धिमान विद्वान सभ्य शिक्षितजनों से अनेकों पाप छूट गए हैं। फिर भी अभी अनेकों पापों का न्यूनाधिक अंश चल ही रहा है उसे ध्यान से देखना चाहिये।

हमें यह भी समझाया गया है कि जो साधक अनर्थकारी लोभ को त्याग कर धन की आसक्ति से मुक्त हो चुका है, जो संग्रह करता ही नहीं जो संयमी पुरुष कामना भी नहीं रखता उस पर अग्नि का चोर का, ग्रहों का प्रभाव नहीं पड़ता, उसे तो मृत्यु का भी भय नहीं रह जाता।

सम्पत्ति और वस्तुओं के संग्रह में जिसका मन अटका हुआ है उसे भगवान मूढ़ कहते हैं। तन के रोगों की चिकित्सा सभी करते हैं पर मूढ़ मन की चिकित्सा कोई विरले ही विद्वान कर पाते हैं; प्रायः अटके ही रह जाते हैं।

संयमी साधक एक ही जन्म में सहस्रों जन्मों के पुण्य संचय कर लेता है, परन्तु असंयमी, लोभवश दान नहीं करता, मोहवश आसक्ति नहीं छोड़ पाता, अभिमान वश विनम्र नहीं हो पाता, दोष दृष्टि के कारण श्रद्धालु नहीं बन पाता। इसीलिये वह दरिद्र, दोषी, रोगी तथा वस्तुओं व्यक्तियों का दास हो कर दुःखी ही रहता है।

जप, यज्ञ, दान, व्रत, स्वाध्याय के साथ संयम की पूर्णता से भगवान की भक्ति सुलभ हो जाती है।

मनुष्य जिस सीमा तक पुण्य कर्म करता है उतनी मात्रा में दानी होता जाता है और जितना दानी होता है किन्तु दान का फल नहीं भोगता है उतना ही दोषों का त्यागी होता है, जितना त्यागी होता है उतने ही अंश में सेवा को पूर्ण कर पाता है।

जितने अधिक पुण्यों का संचय होता है उतना ही अधिक मनुष्य को अनुकूलता का सुख होता है।

पुण्यों के फल से ही सुन्दर रूप, स्वस्थ शरीर, धन, ऐश्वर्य, विद्या, विवेक, शूरता, वीरता यश, अधिकार, दीर्घायु, अनुकूल परिवार आदि सभी कुछ सुन्दर मिलता है। सुन्दर के साथ जो कुछ असुन्दर रहता है, प्रतिकूल रहता है, दुखद रहता है वही पाप का, अधर्म का फल है।

जो पापकर्मी अधर्मी होते हैं वह प्रायः कुत्सित कर्म करने वाले कठोर, कुरूप, रोगी, दरिद्र, मूर्ख और दूसरों के दास होते हैं।

परिवार और परिवार के स्वामी का प्रेम, समाज और समाज के नेता का प्रेम, देश और देश के संरक्षक का प्रेम, राष्ट्र और राष्ट्रपति का प्रेम, विश्व और विश्वनाथ परमेश्वर का प्रेम, एक मात्र निष्काम सेवा के द्वारा ही प्राप्त होता है।

जिस सेवा के पीछे कोई कामना नहीं है जिस सेवा के पीछे प्रीति के साथ ही सात्विक श्रद्धा है, पूज्यभाव है, जिस सेवा के पीछे अपने स्वामी की आज्ञा पालन का विवेक है जिस सेवा का उद्देश्य अपने प्रियतम प्रभु को नित्य सन्तुष्ट प्रसन्न देखने की ही अभिलाषा है, जिस सेवा के लिये साधन सामग्री अपने प्रभु की ही दी हुई दिखती है, इसीलिये सेवा करने का अभिमान नहीं है– इस प्रकार की सेवा को ही यथार्थदर्शी सन्त भजन कहते हैं ऐसा भजन ही हम सबके संकटों को दुःख को, अशान्ति को मिटा देता है और परमप्रभु के नित्य योग को दिखा देता है।

हम योगााभिलाषी साधकों को देखना चाहिये कि कहीं अपनी ही मूढ़ता, जड़ता, अज्ञान और मान्यता अर्थात् स्वीकृतियों के कारण दासता से तो नहीं बँधे हैं?सबसे अधिक भाग्यहीन वह दास है जो अपनी दासता को ही नहीं जानता।

अतः सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर घर बनाकर, उन प्राणियों के ही रूप में स्थित मुझ परमात्मा का यथा योग्य दान मान मित्रता के व्यवहार तथा समदृष्टि के द्वारा पूजन करना चाहिये।

हमें सावधान किया गया है कि जब तुम पापकर्मों से दूर रहकर सदा पुण्य कर्म को ही करते रहोगे, श्रेष्ठ पुरुषों का सा ही आचरण करोगे, तभी भगवान की पूजा के अधिकारी हो सकोगे।

यदि तुम परमात्मा की महानता को सुनकर जानकर संसार की कोई वस्तु चाहते हो तो भगवद प्रेम से रहित हो।

जहाँ तुम किसी वस्तु व्यक्ति को अपना मानकर कुछ बनते हो वहीं भगवान से भिन्न हो जाते हो।

जब भीतर से किसी के कुछ नहीं बनते हो जब केवल अकेले ही रह जाते हो तभी परमप्रभु से मिल जाते हो।

जब तुम केवल चेतन आत्मा में ठहरोगे तब देखोगे कि हम क्या हैं। जब किसी अन्य की ओर देखोगे चलोगे तब आत्मा को एवं स्वयं को नहीं जान पाओगे।

मूढ़ता

सभी सन्त गुरुजन जो समझा रहे हैं।
यह चर्चा भुलाना महा मूढ़ता है।।
बड़े भाग्य से ऐसा अवसर मिला है।
निरर्थक बिताना महा मूढ़ता है।।
समझ लो यह परिवार कब तक रहेगा।
किसी का सुखद प्यार कब तक रहेगा।
जो माना है, अधिकार कब तक रहेगा।
नहीं समझ पाना महा मूढ़ता है।।
बहुत शीघ्र ही अपना उद्धार कर लो।
जो कुछ कर सको पर उपकार कर लो।
यह अज्ञान की सीमा पार कर लो।
देरी लगाना महा मूढ़ता है ।।
जहाँ रह रहे हो, निकलना पड़ेगा।
नहीं चाहने पर भी चलना पड़ेगा।
जिसे खोके फिर हाथ मलना पड़ेगा।
वहाँ मन फँसाना महा मूढ़ता है।।
सदा शान्ति रहती है समता के पीछे।
समता न आती विषमता के पीछे।
विषमता रहा करती ममता के पीछे।
ममता बढ़ाना महा मूढ़ता है।।

कहीं मुग्ध होकर के तन में न अटको।

कहीं लोभी बन कर के धन में न अटको।

अचल में रहो चपल मन में न अटको।

'पथिक' अटक जाना महा मूढ़ता है।।

संयम

जो सब भूतों की रात्रि होती है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिस अवस्था में सब प्राणि मात्र जागते हैं वह सम्यक् दृष्टि से देखने वाले मुनि के लिये रात्रि होती है। (गी0 2 ।69)

साधारण लोग और संयमी स्थितप्रज्ञ ज्ञानी इन दोनों के व्यवहार में दिन और रात्रि के समान परस्पर अन्तर होता है।

साधारण असत्संगीजन जिसको ज्ञान मानते हैं वह ज्ञान में देखने वालों की दृष्टि में बौद्धिक जानकारी होती है। वह जानकारी सांसारिक सुख सुविधाओं का साधन तो बनती है पर उस जानकारी से दुःखों का अन्त नहीं होता, बन्धनों से मुक्ति नहीं मिलती। वास्तव में बौद्धिक ज्ञान वस्तुओं के विषय में सहायक है पर सत्य परमात्मा के दर्शन के लिये आत्मा परमात्मा का बोध आवश्यक है।

बोध के लिये प्रज्ञा दृष्टि खुलनी चाहिये, प्रज्ञाचक्षु खुलने के लिये ध्यानयोग की दृढ़ता आवश्यक है, ध्यानयोग की सिद्धि के लिये शरीर में, इन्द्रियों में, मन में, विचारों में, संयम की पूर्णता की अपेक्षा है। संयम से ही बिखरी हुई शक्ति संचित होती है उसी संचित शक्ति से संकल्प में दृढ़ता आती है।

संयमी ही शक्ति को दुरुपयोग से बचाने के लिये जागता है। संयमी ही योग की सिद्धि के लिये ज्ञान प्रकाश के लिये जागता है। जहाँ संयमी जागता है वहीं असंयमी की दृष्टि बन्द रहती है। जाग्रत संयमी, अशुभ की, अनीति की, अधर्म की परिधि को पार कर जाता है।

संयमी ही ज्ञान प्रकाश में शुभ को, नीति को, धर्म को एवं दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करता है। असंयमी अज्ञानरूपी निशा में स्वधर्म के प्रति, नित्य चेतन आत्मा के प्रति, शुभ, सुन्दर सत्य के प्रति सोता रहता है वह जाग्रत में स्वप्नवत् सुख–दुःख का भोगी होता है, पर यथार्थदर्शी नहीं होता।

दो दिशाओं में अथवा दो गतियों के मध्य तथा दो अतियों के मध्य में होने को संयम कहते हैं।

इन्द्रियों के विषय स्पर्श में सुखास्वाद न लेना संयम है। ज्ञान में दृश्य को देखते हुए तटस्थ रहना साक्षी होकर देखना ही संयम है। इन्द्रियों को झरोखा बनाकर दृश्य को, दृष्टा होकर देखना संयम में रहना है।

जो अनेकों संकल्पों कामनाओं का त्याग करता है वह संयमी है। अनेकों संकल्पों के त्याग से एक संकल्प की तत्काल पूर्ति हो सकती है किन्तु परमार्थी साधक अपने संकल्प की पूर्ति न करके दूसरे के हितकारी संकल्प की पूर्ति करते हुए सेवक होता है।

संयमी के जागरण में भय समाप्त हो जाता है। जागरण में यह ज्ञात होता है कि जिसे मैंने 'मैं' जाना था वह 'मैं' नहीं हूं, जिसे अपना माना था वह मेरा नहीं है।

संयमी होकर ज्ञान में जागे बिना हम शरीर, सम्पत्ति, सम्बन्ध, संस्कार, सम्मान, प्रतिष्ठा में घुल मिलकर कर्ता, भोक्ता मानते रहते हैं।

असंयमी होने के कारण हम वस्तुओं, व्यक्तियों के दासत्व में बँधे रहते हैं। संयम से जाग्रत होकर ही दासता से मुक्त हो पाते हैं।

जब तक हम संयमी नहीं होते तब तक भोगी रहते हैं और जब तक भोगी रहते हैं तब तक अन्य का, पर का आश्रय लेकर परतन्त्र पराधीन रहते हैं। जब तक परतन्त्र पराधीन रहते हैं तब तक भय से घिरे रहते हैं।

विनाशी से सम्बन्ध रहने तक भय रहता है। संयम के द्वारा स्वरूप में शान्त स्थिर रहने पर भय समाप्त हो जाता है।

संयमी

(1) दैवी सम्पदा से योगी होता है (2) अकाम होता है (3) निष्काम सेवा करता है (4) आत्मा में तृप्त होता है (5) अमर जीवन में होता है (6) धीर–गम्भीर होता है (7) कहीं शोकित नहीं होता (8) दुःख में भी शान्त रहता है (9) सुख का लोभी नहीं रहता (10) भय, क्रोध, क्षोभ से रहित होता है (11) विरक्त रहता है (12) विवेकी होता है (13) आत्म ज्ञानी होता है (14) रात्रि में जल्दी सो जाता है (15) रात्रि रहते उठ जाता है (16) समय–शक्ति का सदुपयोग करता है (17) परार्थी, परमार्थी होता है (18) बन्धन से मुक्त होता है (19) भक्त होता है।

असंयमी

(1) आसुरी सम्पदा का भोगी होता है (2) सकाम होता है (3) कामना पूर्ति के लिये कर्म करता है (4) मन में अतृप्त रहता है (5) मृत्यु से घिरी देह में जीता है (6) अधीर भयातुर रहता है (7) सदा प्रसन्न नहीं रहता (8) दुःख में व्यथित होता है (9) सुख की लोलुपता रहती है (10) भय, क्रोध, क्षोभ में अशान्त होता रहता है (11) आसक्त रहता है (12) अविवेकी होता है (13) देहाभिमानी होता है (14) रात्रि में बहुत देर में सोता है (15) प्रातः देर में उठता है (16) समय–शक्ति का व्यर्थ अनर्थ में दुरुपयोग करता है (17) अकारथी भोगार्थी होता है (18) बन्धनों से ग्रन्थित रहता है (19) अभक्त गृहासक्त होता है।

हमें समझाया गया है कि तुम इतना संयम रक्खो कि व्यर्थ बोलने की अपेक्षा मौन रहो। मौन रहकर जो कुछ बोलो वह सत्य बोलो अर्थात् सत्य परमात्मा से संबंधित चर्चा करो।

मौन रहना संयमी की पहली विशेषता है। सत्य से सम्बन्धित चर्चा करना दूसरी विशेषता है। प्रिय हितकर बोलना तीसरी विशेषता है। धर्म एवं न्याय युक्त सम्भाषण से सज्जनों को साधु जनों को सन्तुष्ट करना चौथी विशेषता है।

संयम की भूमि में तुम्हें सदा शान्ति से, कृतार्थता से, सन्तोष से भरे रहना चाहिये।

यह भी समझ लेने की बात है कि लोभी तथा अभिमानी कामी का संयम कहीं कहीं बहुत अनिष्टकारी होता है, वह बाहर से तो संयमी दिखता है पर उसकी संयमित शक्ति का विस्फोट विध्वंसक बन जाता है, क्योंकि उसके भीतर सब कुछ छिपा रहता है अवसर पाकर पूरे वेग से उमड़ आता है।

हम साधकों को ऐसा संयमी नहीं बनना है कि दूसरे के असंयम चिन्तन करते हुए अपने भीतर संयम का अभिमान बढ़ाते जायें।

संयम द्वारा किसी प्रकार का वेग रोकने से शक्ति तो बढ़ती है पर शान्ति नहीं मिलती, वास्तव में क्रोधादि के चले जाने में ही शान्ति सुलभ होती है।

संयम से शक्ति, सम्पत्ति, साधना की सिद्धि होती है असंयम से आसक्ति, विपत्ति, असिद्धि का भोग होता है।

संयमी विवेकी साधक दोषों से रहित होना चाहता है, सेवा में ही प्राप्त शक्ति का उपयोग करता है और स्वयं आत्मा परमात्मा के योगानुभव में पूर्ण शान्त रहता है।

संयम की पूर्णता में साधक के भीतर संसार नहीं रह जाता है क्योंकि वह संसार से कुछ नहीं चाहता जब तक साधक के मन में किसी अन्य सम्बन्धी से आदर, प्यार, मान, धन आदि की चाह रहती है तब तक संयम की पूर्णता नहीं होती।

इन्द्रिय का धैर्य, मन का धैर्य, बुद्धि का धैर्य न टूटना ही संयम की सफलता है। जो दूसरों की दुर्बलताओं से होने वाली भूलों को सह लेता है सहस्रों अपराधों को क्षमा करने की शक्ति से सम्पन्न है, वही संयमी, भगवान के प्रेम को प्राप्त करता है।

पूर्ण संयमी ही पूर्ण साधु होता है जो साधु है वही स्वस्थ है। जो असाधु है वही अस्वस्थ है असंयमी है।

परमगुरु भगवान के जाग्रति सन्देश को देने वाले सन्त के उद्गार हैं :—

जीव जाग जा

बेला अमृत गया आलसी सो रहा बन अभागा।

साथी सारे जगे तू न जागा।।

झोलियाँ भर रहे भाग्य वाले, लाखों पतितों ने जीवन सम्हाले।

रंक राजा बने, ज्ञान रस में सने, कष्ट भागा। साथी सारे0।।

कर्म उत्तम थे नर तन जो पाया, मूर्ख रह करके हीरा गवाया।

हो गई उल्टी मति करके अपनी ही क्षति, विष में पागा सा0।।
धर्म वेदों का देखा न भाला, समय खोया, पड़ा दुःख से पाला।
सौदा घाटे का कर, हाथ माथे पे धर, रोने लागा। साथी0।।
सत् असत् को न तूने विचारा, सिर से ऋषियों का ऋण ना उतारा।
हंस का रूप था, गंदला पानी पिया, बन के कागा।। साथी0।।
सीख गुरु की अभी मान ले तू, निज को विज्ञान से जान ले तू।
शब्द सोहं का भज, देह अभिमान तज, हो विरागा।। साथी0।।

समत्व योग

आध्यात्मिक ग्रन्थों में अनेकों प्रकार के योगों की चर्चा सुनने पढ़ने में आती है। कुछ सुनकर पढ़कर जो कुछ हम समझ लेते हैं, उसी को पूर्ण मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु अपने ज्ञानाभिमान के साथ कितना अज्ञान है– यह तभी जान पाते हैं जब अनुभवी तत्वदर्शी, ज्ञान में दर्शन करने वाले महापुरुष का समागम सुलभ होता है।

योग के विषय में भगवान् का अद्‌भुत निर्णय है। परम गुरु भगवान् कहते हैं कि योगस्थ होकर कर्म करो फलासक्ति छोड़कर, सिद्धि असिद्धि में सम रहो। समत्व ही योग है।

भगवान के इस आदेश, निर्देश से यह दिख रहा है कि हम अनेकों परमार्थी, साधक अज्ञानवश योगस्थ होकर कर्म करने की कला जानते ही नहीं प्रत्युत तनस्थ होकर, धनस्थ होकर, अधिकारस्थ होकर, अथवा मिले हुए में आसक्ति रखकर कर्म करते हैं। असंग होकर नहीं, प्रत्युत संगासक्त होकर कर्म करते हैं। हम समता की भूमि में योगी नहीं हैं; विषमता की भूमि में संयोग–वियोग के भोगी बन रहे हैं, फिर भी हम अपने को योगाभ्यासी मानते हैं, अब भगवद् कृपा से बुद्धियुक्त होकर हम अहंकार के अज्ञान तथा भ्रम को जान रहे हैं।

हम देखते हैं कि अज्ञात जन्मों से विषयासक्ति का योगाभ्यास दृढ़ हो रहा है, अब हम भगवान् के उपदेश मान लें तब योगाभ्यास भी दृढ़ हो सकता है।

एक छोटे से दीप की ज्योति वायु के झोंके से काँपती है, बुझ जाती है, वही ज्योति विशाल लपटों के संयोग से जब बढ़ जाती है तब वायु के झोंके उसके विस्तार में बुझाने के विपरीत, सहायक हो जाते हैं; उसी प्रकार समत्व योग के अभ्यास से जो साधक लाभ–हानि संयोग–वियोगादि के झोंकों से कांपता नहीं धैर्य में समस्थित रहता है तब उसकी शक्ति प्रतिकूल परिस्थिति से अधिक से अधिक बढ़ जाती है; ऐसा ही साधक मृत्यु के भय से मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त करता है।

जीव–आत्मा की परमात्मा से विभक्ति मृत्यु है और अविभक्त होना अमरता है।

बुद्धियोगी जानता है कि जो निरन्तर है, वही सत् है। जिनकी सत्ता अखण्ड है, जो विनाशी का अस्तित्व है, वही सत् है। जिसकी स्थिति नहीं है, अस्तित्व नहीं है जो केवल प्रतीत तो होता है पर प्राप्त नहीं होता, वही असत् है।

भगवान ने सावधान किया है कि सब कर्म आसक्ति छोड़कर फल की इच्छा का त्याग करके निष्काम होकर करते रहो। यह भगवान की निश्चित सम्मति है। इसी को भगवान ने सात्विक त्याग कहा है।

हम सभी परमार्थी साधकों का कर्तव्य है कि रह–रह कर नित्य–निरन्तर अभिन्न परमात्मा में ही मनको लगायें, उसी में बुद्धि को स्थिर करें, अपने अहं के पीछे उसी की अखण्ड सत्ता का शक्ति का, चेतना का अनुभव करते रहें और अनुकूल परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में सम–शान्त रहकर कर्तव्य पालन करते रहें क्योंकि कोई परिस्थिति सदा नहीं रहती, तब राग–द्वेष व्यर्थ अनर्थ का हेतु है।

संग से ही अनेकों दोष बढ़ते हैं, दोषों के कारण ही दुःख होता है। हम दुःख से बचना चाहते हैं पर दोषों को नहीं मिटा पाते।

यह भी परमगुरु भगवान का निर्णय है कि संगानुसार विषय–चिन्तन होता है तथा लोलुपता बढ़ती है, कामना, आसक्ति हो जाती है आसक्ति से ही कामना बढ़ती है, कामना की प्रतिकूलता में ही क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह, मोह से भ्रम, भ्रम से बुद्धि नाश और बुद्धि नष्ट भ्रष्ट होने पर मनुष्य का विनाश होता है।

भगवान ने आसक्ति छोड़ समता धारण कर कर्म करने की इसीलिये सम्मति दी है, क्योंकि निरासक्त भाव से जो दूसरों के सेवारूप धर्म का पालन करता है वही विरक्त होकर सत्य में अनुरक्त हो पाता है।

तृष्णा पाप का फल भुगताने आती है, उसकी पूर्ति कभी होती ही नहीं; इसीलिये तृष्णा का त्याग करो। क्रोध आने पर शान्त रहो, क्रोध के आवेग में मौन रहो। जो कुछ सदा नहीं रहेगा, उससे ममत्व छोड़कर जो सदा रहेगा उस सनातन आत्मा को जानकर सदा प्रसन्न रहो। अविनाशी आत्मा में ही अटल श्रद्धा स्थित करो। किसी सन्त महात्मा में जब श्रद्धा करो तब उसके सुन्दर बलवान शरीर के प्रति न करो प्रत्युत ज्ञान के प्रति अथवा अविनाशी चेतन स्वरूप के प्रति करो।

तुम शरीर तथा इन्द्रियों के संयोग का बुद्धियोगी होकर सेवा में सदुपयोग करो क्योंकि सुखोपभोग करने से मिले हुए संयोग का भोग होता है और बुद्धियोग पूर्वक सेवा करने से सदुपयोग होता है।

लालच छोड़कर दानभाव से जीवन पर्यन्त निष्काम रहकर कर्म करते रहना ही बुद्धियोग है।

बुद्धियुक्त होकर निष्काम भाव से कर्म करते हुए तुम कर्म के बन्धन में नहीं बँधोगे।

भगवान के वचनों में अर्थात् ज्ञान विज्ञान में श्रद्धा रखकर तदनुसार आचरण करोगे तब तो मुक्त हो जाओगे, यदि ज्ञान–विज्ञान से विमुख मूढ़ बने रहोगे तो नाश को प्राप्त होगे।

परमगुरु भगवान का निर्णय है:– जिसकी बुद्धि स्थिर होती है वह मुनि होता है। चंचल बुद्धिवाला मुनि नहीं हो पाता, वह तो भोगी बना रहता है। भोगों में आसक्त बुद्धिवाले मनुष्य समाधि में स्थिर नहीं हो पाते।

जो स्थिर बुद्धि वाले मानव हैं, उन्हीं को भगवान ने आदर्श पुरुष माना है। चंचल बुद्धि वालों को सद्गति सुलभ नहीं होती। वे जगत के बीच में दीन–हीन मनुष्य हैं।

भगवान का निर्णय है:– जब तक तुम कहीं रागी हो, कहीं द्वेष करते हो; जब तक तुम सब प्रकार की प्रतिकूलताओं में सहिष्णु नहीं हो पाते हो; जब तक तुम इन्द्रियों पर अधिकार नहीं रख पाते हो, तब तक भयातुर होते रहते हो, जब तक तुम तृष्णा की पूर्ति में लगे हो, जब तक तुम क्रोध को नहीं जीत पाते हो, तब तक तुम्हारी बुद्धि स्थिर नहीं होगी।

बुद्धि को स्थिर रखने के लिये भाग्यानुसार जो कुछ तुम्हें मिला है, उसे अपने भाग का समझ कर सन्तुष्ट रहो। दूसरों के पास जो वस्तु है उसकी कामना न करो। किसी वस्तु या व्यक्ति से राग या द्वेष न करो। व्यवहार में विषमता छोड़ दो। मन की चंचलता को वश में करो। सहनशील बनो। अविनाशी आत्मा परमात्मा का आश्रय लेकर निर्भय बनो।

प्रायः विद्वानों के मत से 'जोड़ना' ही योग है।

इसीलिये गीता में जब विषाद से सम्बन्ध जुड़ता है तब उसे विषादयोग कहते हैं। जब संख्या द्वारा सत्य से सम्बन्ध जोड़ा जाता है तब उसे सांख्ययोग कहते हैं। कर्म के सम्बन्ध जोड़ने को कर्मयोग, इसी प्रकार ज्ञानकर्म सन्यासयोग, कर्म सन्यास योग, ध्यान योग, ज्ञानविज्ञानयोग अक्षरब्रह्म योग, राज विद्या राजगुह्य योग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शन योग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग योग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग देवासुर सम्पद विभाग योग, श्रद्धात्रयविभागयोग, सन्यासयोग ये अठारह योग के नाम दिये गये हैं।

जिसके द्वारा सत्य, अखण्ड परमात्मा के सम्बन्ध की स्मृति हो वही योग का साधन हो जाता है और जो परमात्मा से विमुख बना दे वही संयोग भोग का साधन हो जाता है।

जहाँ तक विनाशी से, अनित्य से, अपने से जो कुछ भिन्न है, उससे योग होता है वहाँ तक वियोग भी अनिवार्य है।

जो संयोग में सुख भोगता है उसे ही वियोग का दुःख भोगना पड़ता है; किन्तु सत्य परमात्मा के योग में आनन्दानुभव होता है।

स्थिर आसन के द्वारा शरीर योग, प्राणायाम के द्वारा प्राणयोग, संकल्प विकल्प के त्याग द्वारा मनोयोग, वृत्तिनिरोध द्वारा चित्तयोग, विचार प्रशमन द्वारा अर्थात् निर्विचार स्थिति द्वारा बुद्धियोग, एवं संगाध्यास के त्याग द्वारा अहंकार योग और अनात्मा से विमुखता असंगता द्वारा आत्मयोग की सिद्धि होती है।

ज्ञानयोग द्वारा सभी प्रकार के योगों का दर्शन होता है। और ध्यानयोग से देखने पर सभी योगों की पूर्णता सम्भव होती है, अन्त में प्रेमयोग द्वारा परमानन्द की अनुभूति होती है।

परमानन्द सर्वत्र परिपूर्ण है परन्तु अनुभव के लिये ह्रदय युक्त साधना नहीं है, साधना के लिये दृढ़ संकल्प के लिये संचित शक्ति नहीं है और शक्ति संचय के लिये संयम नहीं है।

हम सभी साधकों को परमात्मा का निरन्तर स्मरण रखते हुए संयमी होना है। दृढ़ संकल्प करना है फिर साधना में सावधान रहना है। सिद्धि असिद्धि में समस्थित रहना है।

योग में चित्त की चंचल वृत्ति बाधक बनती है। कभी लाभ, कभी हानि, कभी संयोग कभी वियोग, सम्मान, अपमान आदि अनेकों सुखद दुःखद प्रसंग आते रहने से वृत्तियों में स्थिरता नहीं रहती। हम साधक कभी अधिक गर्मी होने पर तो कभी अधिक सर्दी होने पर अपनी साधना, अपना कर्तव्य, अथवा सेवा कार्य छोड़ बैठते हैं। जितना ही अनुकूल परिस्थिति में राग होता है उतना ही प्रतिकूल में द्वेष, घृणा, कलह, क्रोधादि विकार हम साधकों को योगस्थ नहीं रहने देते, इसीलिये वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।

हम साधक जन जब वृत्तियों का निरोध नहीं कर पाते, तब कभी तन को कोसते हैं, कभी इन्द्रियों के विषयों से विचलित होकर मधुर शब्द, सुन्दर रूप तथा सुस्वाद आदि के लिये समय शक्ति नष्ट करते हैं, तो कभी इनके विरोध में अपने को ही पीड़ित करते हैं। कभी धन के लिये, मान के लिये, संयोग के लिये घर, नगर की ओर दौड़ते हैं और कभी क्षुब्ध होकर शांति के लिये बन, गिरि, गुहा, मन्दिर की ओर भागते हैं; अशान्ति के कारण को नहीं समझ पाते, यही अहंकार की दुर्गति है। क्योंकि यह अहंकार ही अज्ञान में भोगी, रागी, लोभी, मोही बनता है और अज्ञान में ही त्यागी, दानी, योगी होना चाहता है; परमगुरु भगवान का आदेश सन्देश नहीं मानता।

भगवान के निर्देशानुसार हम जान सके कि शरीर इन्द्रियाँ मन–बुद्धि आदि तथा समस्त भाव विचार परमात्मा के सकाश से, उन्हीं की सत्ता से ही प्रकाशित हो रहे हैं। जो कुछ भी हमें मिला है, उसके द्वारा भोगी बन चुके हैं परन्तु जिस परमेश्वर से सब कुछ मिल रहा है उसे न जानने के कारण हम साधक मानव उस परमात्मा के योगी नहीं हो पाते।

जिस ज्ञान के द्वारा हम देहादिक वस्तुओं को देखते हैं, उसी ज्ञान द्वारा हम समस्त वस्तुओं के स्वामी को जान सकते हैं। जिस ज्ञान द्वारा हम वस्तुओं के संयोग का भोग करते हैं उसी ज्ञान में हम अपने को देखते हुए ज्ञानयोगी होते हैं।

जिन कर्मों के कर्ता बनकर हम कर्म के भोगी बनते हैं, उन्हीं कर्मों के पीछे निरन्तर रहने वाले अखण्ड शक्ति स्वरूप परमात्मा का अनुभव करते हुए हम कर्म योगी होते हैं।

अज्ञान में जो कर्म तथा भाव एवं जानकारी प्रत्येक मानव के लिये भोगसिद्धि का साधन है, ज्ञान में वही सब कुछ योग का साधन होता है।

हम भ्रमवश बुद्धि की जानकारी को ही ज्ञान मानते थे पर गुरु वाक्यों से ज्ञात हुआ कि जानकारी अहंकार को होती है और ज्ञान वह सनातन सत्य है जिस में अहंकार का परिचय मिलता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा भाव, ज्ञान, प्रेम, आदि के संयोग से भोग प्राप्त होता है, और प्रत्येक भोग का परिणाम रोग के रूप में भोगना पड़ता है। यदि कोई भोगी भोगजनित सुख एवं दुःख में सम रहकर सुख के लालच और दुःख के भय का त्याग कर देता है, तभी वह उस परमात्मा के नित्य योग का आनन्द प्राप्त कर लेता है।

भोगासक्तिवश ही हम परमात्मा के नित्य–योग से विमुख होकर संसार के संयोग में आबद्ध रहते हैं।

भगवान के वचनों से हमें यह ज्ञात हो सका कि जब हम कर्म का फल, अपने लिये नहीं चाहेंगे तब जिसकी सत्ता से हम कर्म करते हैं उसका योगानुभव होने लगेगा।

इसी प्रकार जब हमारे सभी भाव अपने भोग के लिये प्रयुक्त न होकर भगवान के लिये होंगे, जब हमारा ज्ञान, भोग के लिये न रहकर भगवान के लिये होगा; जब हमारे द्वारा होने वाला प्रेम किसी संयोग भोग के लिये न होकर परमात्मा में स्थिर होगा तभी हम शक्ति–योग, ज्ञान–योग, प्रेम–योग का अनुभव कर सकेंगे।

जब तक हमारे भीतर धन, किसी संयोग, भोग, मान, पदाधिकार की कामना है तब तक हम जो कुछ भी करेंगे वह भोग का ही साधन बनेगा, नित्य योग की अनुभूति नहीं होगी।

भगवान ने सदा सम रहने को ही योग बताया है। वास्तव में जो निरन्तर सम है, वही परमात्मा है। परमात्मा सर्वज्ञ सर्वदा ज्यों का त्यों एक रस, अखण्ड, अचल रूप में विद्यमान है, उसी में समस्त वस्तुओं और प्राणियों की गति हो रही है।

जिस परमात्मा के आश्रय में सब कुछ हो रहा है, जिसके सहारे ही सारी विषमता चल रही है, उस समतत्व का जो आश्रय लेता है वही समत्व योगी होता है। विषमता के मध्य में शान्त, स्थिर हो जाना समता में होना है।

प्रायः अज्ञान में जो कुछ गति हो रही है उसी पर ध्यान रहता है परन्तु जिसके आश्रय में, आधार में गति हो रही है, उस आधार को हम ध्यान में नहीं देखते।

हम पृथ्वी में लेटते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, दौड़ते हैं, गिरते उठते हैं इसका ज्ञान ध्यान तो है परन्तु जिस पृथ्वी में क्रियाओं का आरम्भ होता है, विस्तार होता है और जहाँ पर सभी गतियों का अन्त होता है, उस आश्रयरूप में पृथ्वी को ध्यान देकर नहीं देखते, पृथ्वी में जो कुछ है उसे ही देखते हुए रागी, द्वेषी बन जाते हैं।

सदा न रहने वाले अनित्य सुख का भोग ही नित्य योग में बाधक होता है। परमगुरु भगवान बहुत ही सुन्दर युक्ति बताते हैं कि इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श रसादि विषयों को राग द्वेष रहित होकर देखो, भोक्ता न बनो, जो इन्द्रियों के विषयों में विचरता है (ठहरता नहीं, बँधता नहीं) वही प्रसन्नता को प्राप्त होता है। जेल में कैदी वही माना जाता है, जो भोगी अर्थात् दण्डित होता है, बन्धन में रहता है और उसी जेल में अधिकारी, मुक्त, स्वतन्त्र वही माना जाता है जो जेल में विचरता है निरीक्षण करता है, ठहरता नहीं। इसी भाँति विषयों की सीमा में विचरण करने वाला द्रष्टा स्वतंत्र, प्रसन्न रहता है और विषयों के भोग में आसक्त

रहने वाला परतन्त्र होता है, दुःखी होता है। जो प्रसन्न रहता है उसकी बुद्धि स्थिर होती है। (गी0 2/64–65) में इस बात की पुष्टि की गयी है।

परमगुरु भगवान का यह भी निर्णय है कि समत्व योग की सिद्धि के लिये सुख–दुःख लाभ–हानि, जय, पराजय, अनुकूल–प्रतिकूल में परमात्मा का आश्रय लेकर सम शान्त रहो।

परमगुरु भगवान सभी प्रकार की भाग्यानुसार होने वाली अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में सम रहने का उपदेश देते हैं; परन्तु सम रहना तभी सुगम होगा जब हम साधक जन बुद्धियुक्त होकर सदा न रहने वाले सुख संयोग की सीमा को और सदा न रहने वाले दुःखद वियोग की सीमा को, सदा रहने वाली शाश्वत शान्ति एवं सदा रहने वाले परमात्मानन्द एवं परमात्मा के असीम प्रेम को देखते रहने के लिये सजग रहें।

हम अनेक साधक समत्व योग की महिमा सुनते हैं, गीता में पढ़ते हैं, समझते हैं और दूसरों को समझाते भी हैं परन्तु व्यवहार में सम रहने के लिये सावधान नहीं रहते। समता के अभ्यास का दृढ़ संकल्प नहीं करते तद्नुसार इन्द्रियों, मन, और बुद्धि को मर्यादित संयमित और स्थिर रखने की साधना नहीं निभा पाते।

हम सभी परमार्थी साधकों को सावधान रहकर जहाँ–जहाँ विनाशी वस्तुओं तथा व्यक्तियों के संयोग के साथ सुख–दुःख भोग का अभ्यास दृढ़ हो गया है, वहीं पर द्रष्टा होकर देखने का अभ्यास दृढ़ करना चाहिये। मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, निर्बल हूँ, बलवान हूँ, संयोगी हूँ, वियोगी हूँ, ऐसा न मानकर ऐसा देखें कि यह सुख है, यह दुःख है, यह देह बलवान है, यह देह दुर्बल निर्बल है, यह मन संयोगी है, वियोगी है। मैं द्रष्टा विनाशी में नहीं हूँ, अविनाशी परमात्मा में हूँ।

हम बन्धन में रहना नहीं चाहते, मुक्ति चाहते हैं और जीवन भर प्रयत्न भी करते रहते हैं। पशु भी बन्धन से दुखी होता है वह स्वतन्त्र विचरण करने के लिये चलना चाहता है। पर अपने को रस्सी से बँधा पाता है, कुछ जोर लगाता है पर उसे ज्ञान नहीं है कि रस्सी कैसे तोड़ी जा सकती है; इसीलिये शक्ति होते हुए भी वहीं का वहीं बँधा रहता है।

हम मनुष्य भी बन्धन से अशान्त होते हैं कभी कभी अपनी समझ के अनुसार मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इन्द्रियों से विषय ग्रहण की स्वच्छन्दता के कारण परतन्त्र होकर भयानक दुष्परिणाम भोगते हैं।

स्वतन्त्र बन्धनमुक्त सभी प्राणी होना चाहते हैं परन्तु भगवान के मतानुसार स्वतन्त्र बन्धन मुक्त होने का ज्ञान उन्हीं पुरुषों को होता है जो बुद्धियुक्त होकर मन की गति, दुर्गति, सद्गति, परमगति को जानते हैं, जो मनीषी हैं अर्थात् जो अपने मन पर अधिकार रखते हैं, जो ज्ञान में बन्धन को देखते हैं उन्हीं के लिये भगवान ने बन्धन मुक्त करने वाले, आनन्द देने वाला उपाय बताया है। भगवान ने कहा है कि जो शुभ कर्म करो, उसके फल को अपने लिये न चाहो, उस फल का दान करो, कर्तव्य का पालन करो, किसी की अपेक्षा न रखो, लोभ छोड़ दो, बदले की इच्छा न रखो।

समत्व योग की सिद्धि के लिये परमगुरु भगवान के कहे हुए उपाय हैंः–

(1) मोहरूपी दलदल में धँसी हुई बुद्धि को निकालने के लिये बुद्धि के पीछे नित्य रहने वाले परमात्मा के स्मरण का सहारा लो।

(2) जहाँ कहीं विनाशी वस्तु में आसक्ति है, उसके वियोग में दुःख का भोग करने के प्रथम ही आसक्ति, ममता को छोड़ दो।

(3) मन की इच्छा पूर्ति के लिये बुद्धि को मन के पीछे न लगाओ प्रत्युत मन में आगे बुद्धि से कर्तव्य या अकर्तव्य का निर्णय कर लो।

(4) जो नित्य अचल स्थिर आत्मा इतना ठोस है, परिपूर्ण है कि चलने के लिये जगह शेष ही नहीं है उस चेतनघनतत्व में ही बुद्धि को स्थिर करो। ऐसा करने से समत्व योग की प्राप्ति हो जाती है।

जब तक कामनाओं का त्याग नहीं होता, जब तक संग के प्रभाव से संकल्प उठते रहते हैं, जब तक इन्द्रियाँ विषयों में चंचल रहती हैं, जब तक बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती, जब तक बुद्धि स्थिर करने के लिये धैर्य को धारण नहीं किया जाता जब तक विचारों को शान्त नहीं किया जाता तब तक आत्मा का योग नहीं हो पाता।

परमात्मा सभी नामों एवं रूपों के पीछे नित्य विद्यमान है पर हम मोह, लोभ, आसक्ति वश नाम रूपों में ही अटक जाते हैं आत्मा परमात्मा तक नहीं पहुँच पाते।

भगवान ने सावधान किया है कि विनाशी देह के भीतर अविनाशी आत्मा को जानो; वही तो नित्य प्राप्त जीवन है, वही आनन्द है।

जब सब छोड़ने का साहस करोगे तब प्रभु के पाने का अधिकार सुलभ होगा। यदि छोड़ न पाओगे तब छूटने का दुःख भोगना पड़ेगा इसीलिये ईश्वर की भक्ति के लिये ममता आसक्ति कामना छोड़ने का साहस करो, संकल्प करो।

त्याग का संकल्प पूर्ण होने पर शुभ सुन्दर का दान करो और दान का कोई फल न चाहो।

अहंता, ममता, कामना, आसक्ति का त्याग करने वाले और प्राप्त शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता, अधिकार के द्वारा सेवा करते हुए, शुभ सुन्दर फल का दान करने वाले नित्य मुक्तात्मा को भगवान ने जितात्मा, प्रशान्तात्मा, समाहितात्मा, परमात्मा अथवा ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा, कूटस्थात्मा, त्रिगुणातीतात्मा आदि विशेषणों से नित्य युक्त कहा है।

जिसकी दृष्टि में परमात्मा के सिवाय अन्य कोई दिखता ही नहीं है उसे अनन्य भक्त कहते हैं।

जब चित्त में नित्य निरन्तर अखण्ड चेतन तत्व परमात्मा के अतिरिक्त अन्य का चिन्तन नहीं होता उसे ही अनन्य चेता कहते हैं।

अनन्य चेता साधक नित्य सतत स्मरण करते हुए परमात्मा को सर्वत्र सर्वदा सुलभ पाता है इसीलिये भगवान ने उसे नित्य युक्त योगी कहा है।

जो अपने को सबसे भिन्न मानता है वही अन्य का चिन्तन करता है वह अन्य चेता है। जो सर्व में परमात्मा को देखता है कोई अन्य पराया नहीं दिखता, सब परमात्मामय दिखता है तब अनन्य चेता है अर्थात् उसके चित्त में अन्य का चिन्तन होता ही नहीं। जो अन्य का चिन्तन करता है वह अपने को नहीं समझ पाता।

चित्त से किसी अन्य का चिन्तन न हो केवल एक परमात्मा ही परम प्रेमास्पद भरे रहें– ऐसा तभी सम्भव है जब परमात्मा का सम्यक् ज्ञान हो और केवल परमात्मामय प्रेम हो। परमात्मा के योग में ही ज्ञान की पूर्णता और प्रेम की पूर्णता होती है।

परमात्मा इतना अधिक हमारे निकट है, जितना सागर और लहर है किन्तु ज्ञान में ही उसका योग और प्रेम में ही उसका बोध होता है।

ज्ञान और प्रेम की पूर्णता के लिये जो कुछ सांसारिक वस्तु ज्ञान अथवा प्रेम में भर गई है उन्हें हटाना होता है। ज्ञान एवं प्रेम में संसार के विनाशी नामों, रूपों को हटाने के लिये उनकी नश्वरता का बार–बार मनन करना आवश्यक है और नश्वरता के मनन के लिये अभ्यास की दृढ़ता आवश्यक है। दृढ़ अभ्यास वही है जिसकी विस्मृति न हो।

विनाशी का स्मरण, चिन्तन चलता रहता है उसी स्थान में अविनाशी का स्मरण, चिन्तन होते रहने के लिये सदा सावधान रहने की चिन्ता होनी चाहिये। प्रायः हम साधकों को अनित्य देहादिक वस्तुओं के साथ होने का अभ्यास दृढ़ हो गया है परन्तु नित्य चेतन के साथ होने की स्मृति नहीं रह पाती।

परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है किन्तु उसकी अनुभूति के लिये पूर्ण चेतना से नित्य युक्त नहीं हो पाते। हम अनित्य जड़ वस्तुओं के साथ अपने को उपस्थित करते रहते हैं परन्तु अपने नित्य चेतन में अपने को उपस्थित नहीं देख पाते।

यही साधना, नहीं भुलाना। इसकी सिद्धि, प्रेम को पाना।।

काम क्रोध से शक्ति बचाना। सब इन्द्रिय को वश में लाना।

क्षणिक सुखों में मन न फंसाना।। यही साधना0।।

अन्धे की लाठी बन जाना। भटके जन को मार्ग बताना।।

दीन अनाथों को अपनाना। यही साधना0।।

दुखी जनों का कष्ट हटाना। कंटक चुन कर फूल बिछाना।।

अन्धकार में ज्योति जलाना।। यही साधना0।।

भूखे जन की क्षुधा मिटाना। प्यासे की तुम प्यास बुझाना।।

रोगी को औषधि पहुँचाना।। यही साधना0।।

गिरे हुए को तुरत उठाना। शोक विकल को गले लगाना।

रोते को भी धैर्य बँधाना।। यही साधना0।।

निर्धन को कुछ धन दे आना। निर्बल को बलवान बनाना।।

कहना मत, करके दिखलाना।। यही साधना0।।

पर धन में न कभी ललचाना। जगत दृश्य से विरति बढ़ाना।।

कर्म वीर जग में कहलाना।। यही साधना0।।

वैभव में न कभी इतराना। असफलता में चित न डिगाना।

पथिक सभी विधि नियम निभाना।। यही साधना0।।

साधक का कर्तव्य

सांसारिक राग हटाने के लिये सनातन धर्म के रागी हो जाओ। विनाशी की चिन्ता मिटाने के लिये अविनाशी तत्व का चिन्तन करो। विनाशी वस्तुओं के जप को छोड़कर अविनाशी के नाम का जप करो। विनाशी की व्यर्थ चर्चा छोड़कर अविनाशी आत्मा की चर्चा करो। व्यर्थ स्मरण से मन को हटाकर प्रभु के नाम स्मरण में लगाओ। लोभवश जहाँ लेते रहने का व्यसन है, वहीं पर दान करने के व्यसनी बनो। किसी के स्वामी होने का अभिमान है तो प्रभु के सेवक होने के अभिमानी बनो। व्यर्थ श्रवण को छोड़कर सत्कथा श्रवण करो। मोह करना है तो विरक्त निर्मोही सन्त के मोही बनो। लोभ ही करना है तो अभी से दैवी सम्पत्ति के लोभी बनो। क्रोध नहीं छोड़ पाते तो, अपनी भोगासक्ति पर क्रोध करो। सुखद दुःखद का ध्यान करते हो तो सुख–दुःख को ध्यान से देखो। जब कुछ किये बिना नहीं रह सकते हो तो किसी की सेवा ही करो। विनाशी की ओर भागते हो तो अविनाशी की ओर लौट पड़ो। संसार के विषय में जानना चाहते हो तो स्वयं और सत्य को जानो। संसार में सब कुछ पाने के लिये स्वयं को खोते आ रहे हो तो अब स्वयं को पाने के लिये संसार का सब कुछ छोड़ दो।

सम्राट होना चाहते हो तो बाह्य शत्रु को नहीं स्वयं को जीतो। (गुलामी) दासता से छूटना चाहते हो तो इन्द्रियों की दासता को छोड़ों किसी व्यक्ति के बन्धन में हो तो किसी विरक्त सन्त के बन्धन में रहो। सुख पाने के लिये अधीर हो तो सुख देने के लिये अधीर रहो। किसी के समीप बैठना ही है तो ज्ञानी के पास बैठो।

किसी के घर जाने का अभ्यास है तो किसी दीन दुखी के घर जाओ। कुछ श्रम के लिये टहलना ही है तो प्रभुनाम स्मरण करते हुए टहलो। कुछ पढ़ना ही है तो धर्म शास्त्रों का अध्ययन करो। मनुष्य की कृतिकला देखने के स्थान में प्रकृति कला को देखो। मनोरंजन करना है तो प्राकृतिक सौन्दर्य दर्शन का सुख लो। समाज सुधार का उद्वेग उठता है तो अपने मन का सुधार करो। संबंधी को निरोग देखने की चिन्ता है तो प्रथम अपने मन को निरोग करो। किसी अन्य का रोग देखते ही अपने मन के रोगों का स्मरण करो। अपने को स्वतन्त्र करना चाहते हो तो वासनाओं, कामनाओं, तृष्णाओं के बन्धन को जानो।

तन को शुद्ध रखना है तो आलस्य का त्याग कर सार्थक श्रम एवं सेवा करते रहो।

इन्द्रियों को शुद्ध रखना है तो शब्द, रूप, स्वाद, गन्ध, स्पर्श में आसक्त होकर भोगी न बनो।

विशेषकर वाणी को शुद्ध रखने के लिये कठोर वचन, परनिन्दा, व्यर्थ वार्ता असत् भाषण से बचते रहकर सत्य, मधुर, प्रिय वचन ही बोलने के अभ्यासी बनो। भोजन की शुद्धि के लिये तामस राजस भोजन को छोड़कर सात्विक आहार का ही अभ्यास दृढ़ करो और भोजन का चतुर्थान्श निकालकर किसी भूखे प्राणी को दे दो।

हाथों को शुद्ध रखने के लिये किसी से दान न लो निर्वाह मात्र लेकर सन्तुष्ट रहो। क्रिया शुद्धि के लिये निष्कपट शुद्ध व्यवहार, बर्ताव करो।

चित्त की शुद्धि के लिये आत्मा परमात्मा का अथवा शुद्ध का ही चिन्तन करो।

बुद्धि को शुद्ध रखने के लिये आध्यात्मिक विचारों का ही अध्ययन करो।

अहंकार को शुद्ध रखने के लिये परमात्मा में ही इसकी सत्ता का अनुभव करते हुये आत्मा से ही योगस्थ रहो। जड़देह से तद्रूप न रहकर चिद्रूप हो जाओ।

ज्ञान की शुद्धि के लिये आसुरी वृत्तियों के आच्छादन से बचाकर दैवी वृत्तियों के द्वारा निष्काम कर्म करते रहो।

हमें साधना की सफलता यही बताई गई है कि एक मात्र परमप्रभु ही हृदय में प्रतिष्ठित है– ऐसी अनुभूति होती रहे। प्रत्येक स्वांस के पीछे, धड़कन के पीछे, अर्थात् सबकुछ के पीछे प्रभु ही परमाश्रय दीखते रहें।

साधना की सिद्धि तभी समझना है जब 'मैं' के स्थान में परमप्रभु ही शेष रह जायें। 'मैं' के, अहंकार के अभाव में ही भगवान प्रतिष्ठित मिलते हैं। 'मैं' का अहंकार ही निराकार के आगे नाटक कर रहा है। भोगी अहंकार के साथ जहाँ कहीं कन्जूसी (कृपणता) रहेगी, असंयम रहेगा, आलस्य प्रमाद रहेगा वहीं साधना में असफलता रहेगी।

हम अनेकों साधक आलस्यवश भगवान का नाम भी नहीं ले पाते। प्रमादवश भगवान की बात भी नहीं मानते। स्वार्थवश सेवा नहीं कर पाते। कंजूसी के कारण, जहाँ जो कुछ दे सकते हैं वह नहीं दे पाते।

जहाँ हम असंयमी हैं आलसी हैं, प्रमादी हैं, और कृपण हैं, वहां अपने साथ घोर अन्यायी हैं। जो विवेकी साधक हैं वही आत्म निरीक्षण कर पाते हैं और दोषों का, अपने प्रति अन्याय का त्याग करते हैं।

जो स्वयं में शान्त है वही स्वतन्त्र है।

देह के सन्मुख रहने में विनाश है। आत्मा के सन्मुख रहने में जीवन है। आत्मा से विमुख रहने तक ही भय, चिन्ता, दुःख, मृत्यु का भोग चलता है; यही योग में बाधक है। वासनाओं, कामनाओं, तृष्णाओं के कठोर बन्धन से मुक्ति पाना ही साधना की सिद्धि है।

अधिक श्रम, अति भोजन, अमर्यादित भाषण, दुष्टों का संग, वस्तुओं में अथवा व्यक्ति में आसक्ति, असंयम, विषयोपभोग साधना में नित्य बाधक है।

यथार्थ साधना उसे ही जानना चाहिये जिसके द्वारा दोषों की निवृत्ति हो और भगवान के दिव्य गुणों से जीवन सुन्दर और सर्व प्रिय बन जाये।

साधना की पूर्णता में सहायक

(1) सत्य की जिज्ञासा (2) पवित्रता (3) आध्यात्मिक ज्ञान (4) वैराग्य (5) अहंकार को देखना (6) निष्कामसेवा (7) कर्तव्य पालन में आलस्य का त्याग (8) तत्व चिन्तन (9) परमात्म से नित्ययुक्त होने की स्मृति (10) समर्पण भाव (11) ध्यान से वर्तमान को देखना (12) शुद्ध आत्मा में अहंभाव की लीनता अर्थात ज्ञान स्वरूप में अहंभाव की तन्मयता।

सदा ज्ञान में ध्यान से देखते हुए प्रसन्न रहो। अशान्ति के दीखते ही शान्ति की खोज न करके अशान्ति के कारण को जानो और तृष्णा, वासना, कामना का त्याग करो; क्योंकि इन्हीं की पूर्ति नहीं होने से अशान्ति होती है।

सभी प्राणियों के साथ निर्विकार आत्मा का अनुभव करते हुये सम भावना में दृढ़ रहो।

परमात्मा को जान कर अपने को अभिन्न अनुभव करो। तन, मन, बुद्धि सबकुछ परमेश्वर से मिला जानकर सर्वहित की भावना से कर्म करो, उनका फल न चाहो।

यह संसार परमप्रभु का ही है इसलिये शक्ति, सम्पति योग्यता, तन, मन, बुद्धि आदि जो कुछ मिला है वह सबकी सेवा में लगाये रहो और परमप्रभु को अपना जानकर स्वयं को उन्हीं में समर्पित देखो।

ज्ञान में सावधान रहकर इन्द्रियों तथा मन द्वारा सब कर्म होते हुए देखो, कर्ता न बनो द्रष्टा बनो, इसके लिये सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

राग द्वेष से बचने के लिये किसी की भलाई, बुराई पर ध्यान न दो। राग, द्वेष के रहते भगवान के प्रति अनुराग नहीं होता।

विनाशी के संग से ही राग, द्वेष तथा कामनाओं की उत्पत्ति होती है, इसीलिये विनाशी देह में रहते हुए अविनाशी आत्मा को देखो।

तुम्हारे लिये जो अशुभ है वही नर्क की दिशा है, जो शुभ है वही स्वर्ग की दिशा है और जो पूर्ण निर्दोष सुन्दर है वही प्रभु की दिशा है।

यदि तुम सर्व समर्थ परमात्मा से निरन्तर अपने को अभिन्न देखने लगो तो सदा प्रसन्न रह सकते हो और प्रसन्न रह कर दूसरों को भी प्रसन्नता दे सकते हो। जो दुःख से भरा होता है वह दुःख ही देता है। जो दुःखमय हो सकता है वह आनन्दमय भी हो सकता है और आनन्द ही बिखेर सकता है। प्रेम में होकर ही कोई प्रेम बांट सकता है।

तुम जिसके प्रति प्रेम भाव रखते हो उसे देखकर उसे पाकर प्रसन्न हो जाते हो उसी प्रकार यदि अपने से ही प्रेम से भर जाओ तब निरन्तर प्रसन्न रह सकते हो तभी निरपेक्ष शान्त रह सकते हो।

हम सभी परमार्थी साधकों के लिये सभी सदशास्त्रों वेदों तथा गीता उपनिषद द्वारा भगवान का सार रूप में यही उपदेश आदेश हैः–

सदा परमात्मा परमेश्वर में मन लगाये रहो। परमात्मा परमेश्वर को दूर न मानकर भक्त बनो। परमात्मा को ही सर्वत्र नमस्कार करो– ऐसा करने से परमात्मा की प्राप्ति का अनुभव होगा। परमेश्वर के विधान से जो कुछ सामने आये उसे मंगलमय समझ कर अपने कर्तव्य का निर्णय करो और पालन करो।

प्रतिकूल कामनाओं में शोक न करके शान्त रहो। सब संकटों को पार करने के लिये बुद्धि योग का आश्रय लो। अपने को कर्ता न मानकर सब कर्मों को परमात्मा की शक्ति से उन्हीं की चेतना से एवं उन्हीं की प्रकृति से होते हुए देखो।

अहंकार के मद में अभिमानी रहकर भगवान के उपदेश आदेश का अनादर न करो। बुद्धि को मोह, शोक, भय, क्रोध से अशुद्ध न होने दो। अपने ऊपर संयम रक्खो, इन्द्रियों को वश में किये रहो, मन पर नियन्त्रण रखकर देखते रहो।

किसी रूप के, मधुर शब्दों के, स्वाद के स्पर्शादि विषयों के, भोगी न बनो। जो कुछ नहीं रहने वाला है उस विनाशी में प्रीति फंसाकर रागी न बनो तभी द्वेष से बच सकोगे।

अनेक वस्तुओं, अनेक व्यक्तियों, अनेक वृत्तियों तथा अनेकों रूप एवं नामों एवं अनेक स्थानों अर्थात् जहाँ तक अनेकता की भीड़ है उससे अपने को हटाकर एकान्त का सेवन करो।

स्वल्प और हितकारी भोजन करो। स्वाद में आसक्त न बनो। दिखने वाले तन को, इन्द्रियों के विषय ग्रहण करने वाले द्वारों को, मन को तथा बुद्धि के विचारों को ध्यान से देखो। अपने को कर्ता, भोक्ता न बनाओ। वैराग्य में दृढ़ रहने के लिये कहीं भी किसी दृश्य में आकर्षित न हो जाओ। सदा सम शान्त स्थिर रहो और अहंकार को देखो कि यह कहाँ है? किस रूप में है।

भोग सामग्री का संचय न करो। किसी वस्तु को अपनी मानकर लोभी न बनो। किसी व्यक्ति को अपना मानकर मोही न बनो और अपने को कुछ मानकर अहंकारी न बनो। हम अनेकों साधक दूसरों को जो कुछ सुख या दुःख बाँटते हैं उस समय यह भूल जाते हैं कि जो दूसरों को दे रहे हैं वही हमें कई गुना बढ़कर मिलेगा।

हमें समझाया गया है कि आनन्द चाहते हो तो आनन्द के भिखारी न बनो प्रत्युत दूसरों को सुखी बनाते रहो। जो पूर्ण धनी है वही देता है जो दरिद्र है, वहीं मांगता है। वही अतृप्त असन्तुष्ट रहता है।

यह स्मरण रखना कि जो कुछ तुम्हें मिला है वह तुम्हारे द्वारा दान का ही प्रतिफल है, यदि अब न दोगे तो आगे नहीं मिलेगा। जो दोगे वही मिलेगा।

भगवान का निर्णय है कि जो कुछ मिला है उसमें से कुछ न देकर जो भोग करता है वह चोर है। (गी0 3।12)

हम अनेकों साधकों को लेने का अभ्यास बहुत दृढ़ है पर उसे ही देने का अभ्यास बहुत कम है।

हम सबको समझ लेना चाहिये कि नित्य ही दिन का अन्त होता है, रात का अन्त होता है, अवस्था का अन्त होता है, सुख–दुःख, लाभ–हानि, संयोग–वियोग का भी अन्त होता है, देह का अन्त होता है; इस अन्तवान परिस्थिति को देखते हुए हमें अनन्त में विश्राम पाने के लिये तैयारी कर लेना चाहिये।

सिद्धि की साधना

चित्त को स्थिर रखने का दृढ़ संकल्प करो, चित्त की एकाग्रता के लिये मन को स्थिर करो। मन को बार–बार देखते रहो जहाँ जाये वहाँ से बार–बार लौटाते रहो। मन की स्थिरता के लिये बुद्धि को स्थिर करो। बुद्धि की स्थिरता के लिये विचारों को निरन्तर देखते रहो।

साधनों की सिद्धि के लिये संयम में दृढ़ रहो। संग से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर संग से दूर रहो अपने लिये किसी का संग न करो क्योंकि अपने लिये परमात्मा का नित्य निरन्तर संग तो है ही; इसीलिये किसी अन्य की अपेक्षा न रक्खो।

जो संग स्वतः हो चुका है या आगे होता रहेगा उसके द्वारा सेवा कार्य पूर्ण करो परन्तु सेवा का कोई फल न चाहो।

यदि सेवा का फल स्वतः मिले तब उसका भी उन्हें दान कर दो जो उस फल के भूखे हैं। फल का दान करते हुए दाता होने का अभिमान न आने दो अतः यही निर्णय कर लो कि जो किसी को दिया जा रहा है वही उसका अधिकारी है, वह अपना भाग ले रहा है, उसे न देना चोरी होगी।

सहज ही में जो सुलभ है और आगे भी होता रहेगा उसी में सन्तुष्ट रहो। अधिकाधिक भोग के साधनों के बढ़ाने की इच्छा छोड़ दो। भोगों की वासना जागते ही सावधान होकर उसकी पूर्ति का प्रयत्न न करो। काम वासना के जागते ही आत्मा की उपासना में अर्थात् नित्य चेतन तत्व में शान्त हो जाओ।

दोषों के रहते मन चंचल होगा ही अतः दोषों को भीतर स्थान न दो।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, आसक्ति, ममता, मान, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि दोषों के साथ मिलकर अपने को दोषी नहीं बनाये रहो, सभी दोषों को ऐसे देखो जैसे शरीर से निकलते हुये मल, मूत्र, कफ आदि विकारों को देखते हो और तत्काल हटाकर अपने को शुद्ध अनुभव करते हो।

आसक्ति असंयम बढ़ाती है अतः आसक्तियों का विवेकपूर्वक त्याग करो। आसक्तियों को छोड़ने के लिये परमात्मा के ज्ञान में सद्गुणों में प्रीति बढ़ा लो।

आसक्ति के त्याग के लिये निस्पृह होने के लिये निर्द्वन्द्व होना अनिवार्य है।

सुख–दुःख, लाभ–हानि आदि जितने द्वन्द्व हैं उनके मध्य में सम शान्त रहो। प्रायः अवसर पर सम एवं शान्त रहने की स्मृति नहीं रहती इसके लिये मौन रहने का, किसी वस्तु को अपनी न मानने का, सब कुछ प्रभु का ही जानने का सतत अभ्यास आवश्यक है।

जितना भेद में अभेद का अनुभव करते रहना सहज होगा उतनी सरलता से समता सधेगी।

सब अपने ही समान हैं सब आत्मा ही हैं– इस भाव की दृढ़ता से भेद भाव मिटता जाता है। किसी से द्वेष नहीं रहता।

भगवान के मत से जब तक अपने अन्तर आत्मा में ही सुख शान्ति और (ज्ञान) ज्योति का अनुभव नहीं होता, जब तक साधक निष्पाप नहीं हो जाता, जबतक द्वेषभाव, भेदभाव का अन्त नहीं होता, जबतक आत्म–संयम पूर्ण नहीं होता, जब तक सर्व भूतों के हित में तत्परता नहीं होती, जब तक काम, क्रोध का त्याग नहीं होता, चित्त चंचल रहता है, एक में निष्ठा दृढ़ नहीं होती, सर्वत्र समता, पराभक्ति नहीं आती तब तक असिद्धि ही रहती है; साधना में सिद्धि नहीं मिलती।

भगवान का निर्णय है कि जो साधक आत्म संयमी हैं, जिनका द्वैतभाव नष्ट हो गया है वे सर्व भूतों का हित करने में तत्पर होकर परमोच्च गति पाते हैं।

भगवान के आदेश को मानने वाले साधक भूतमात्र के हित करने को ही भगवान की सेवा जानते हैं और इसी सेवा रूपी भजन से मानव को सद्गति, परमगति, परमशान्ति सुलभ होती है दूसरा कोई सुगम मार्ग नहीं है। भूतहित करना ही भगवद् भक्ति है।

भगवान के आदेशानुसार हम साधक जब तक संयमी नहीं होंगे तब तक भूतहित पूर्ण रूपेण नहीं सधेगा।

संयम की पूर्णता के लिये खान–पान, व्यवहार, व्यापार, लेन–देन, ज्ञान–विज्ञान, संस्कार आदि सभी कुछ शुद्ध रखना होगा।

सतोगुण की वृद्धि संयम की पूर्णता में पूर्ण सहायक है। रजोगुण ही संयम के बाँध को तोड़ता है।

सतोगुण की वृद्धि के लिये आहार, विहार, संग तथा अध्ययन स्थान आदि सभी को शुद्ध रूप में चुनना आवश्यक होता है।

जगत के प्रपंची जन परमार्थ से विमुख रहने के कारण स्वार्थवश वाणी से बहुत ही मधुर भाषी होते हैं। परन्तु हृदय के बहुत ही कठोर होते हैं इसलिये भगवान का आदेश है कि स्वार्थियों के सम्मान और अपमान में समशान्त रहो।

तुम प्रेम के करने वाले न बनों प्रत्युत प्रेम को देखते रहने का अभ्यास बढ़ा लो और प्रेम से कामना को हटाते जाओ, प्रेम में अन्य कुछ भी न रहने दो। परमात्मा में अहं को नित्य सम्बन्धित छाया की भाँति अनुभव करो।

जो कुछ तुम करते हो उसमें सावधान रहो, देखते रहो कि ईश्वरीय आदेशों के अर्थात् धर्म के प्रतिकूल तो नहीं है; और जो कुछ अपने आप तुम्हारे साथ हो उसे ईश्वर के विधान से होता हुआ जानकर उसे मंगलमय होने का विश्वास करो। ध्यान देकर आत्मा की अनन्त शक्ति को, अखण्ड ज्ञान को तथा असीम प्रेम को अपने से भिन्न न जानो।

सदा भीतर बाहर अपवित्र विचारों, दुर्भावों से बचते रहो।

परमगुरु भगवान का निर्णय है कि जिसकी मूढ़ता हट गई है वही परमात्मा को जानता है, ब्रह्म में स्थिर होता है। मूढ़ मानव यथार्थ सत्य को नहीं देख पाता।

अनेकों मनुष्य अज्ञान से मूढ़ बने होते हैं, कोई अहंकार से विमूढ़ होते हैं, कोई धर्मात्मा होने के अभिमान से ही मूढ़ होते हैं, कोई तो ज्ञान को प्राप्त करते हुए भी विशेष मूढ़ बने रहते हैं।

जो सर्वज्ञान प्राप्तकर ज्ञान के अहंकारवश भगवान के उपदेशों की निन्दा, आलोचना करते हैं, जो भगवान के आदेश निर्देश के अनुसार नहीं चलते, वे ही सब ज्ञान के होते हुए ज्ञानाभिमान में अटक गये हैं इसीलिये विशेष मूढ़ हैं।

हम साधकों को अपना निरीक्षण करना चाहिये और देखना चाहिये ज्ञान के अभिमान में वाद–विवाद, कुतर्क में कहीं कटुता, कठोरता पूर्वक किसी का अपमान तो नहीं करते हैं? क्योंकि शब्दों का संग्रह करना, अधिक ग्रन्थ पढ़कर ज्ञानी बनना वास्तविक ज्ञान नहीं है वह तो नक्शा द्वारा विश्व के ज्ञान के समान एक बौद्धिक जानकारी है।

हम अपने समझ के अनुसार भावानुसार अपने को बनाते या बिगाड़ते रहते हैं।

हम साधक निकट सत्य से जितना अधिक दूर हैं उतने ही प्रमादी हैं। जो नित्य सत्य को नहीं जानते वही असत के रोगी हैं।

परमेश्वर से जो कुछ मिलता है उसके पाने में सदा स्वतंत्र हैं और संसार में जो कुछ मिलता है उसके लोभी, मोही, अभिमानी रहते हुए हम कहीं स्वतन्त्र नहीं हैं।

जो कुछ भी दिखता है वह सब संसार की वस्तु है जो अदृश्य रूप में अनुभव में आता है वही परमात्मा की सिद्धि है।

कहीं आसक्त न होना, किसी को अपना नहीं मानकर परमात्मा की वस्तु जानना मन की शुद्धि है। विषयों में आसक्त न होना इन्द्रियों की शुद्धि है संग की आसक्ति से मुक्त रहना अर्थात् असंग रहना अहंकार की शुद्धि है। अज्ञान के विपरीत ज्ञान में देखना बुद्धि की शुद्धि है। जिसका आहार विहार शुद्ध नहीं होता चोरी, हिन्सा, अनाचार अवश्य करेगा।

अपने को ज्ञानी मानना, त्यागी, दानी, श्रेष्ठ मानना, अहंकार को पुष्ट करते रहना है। अहंकार ही कुछ न कुछ बनता रहता है, वही कुछ से कुछ होना चाहता है।

धार्मिक सज्जनों की रक्षा, दुष्ट, दुर्जनों का विरोध अथवा उनका नाश और मानव धर्म एवं सदाचार की व्यवस्था करना शक्तिशाली अधिकारी विद्वान का कर्तव्य है।

जो भोजन करो उसका कुछ भाग चतुर्थ भाग दान कर दो, जो वस्त्र अपने लिये लो उसी समय कुछ वस्त्र दान के लिये भी मोल ले लो, किसी को दे दो।

दान देकर भोग करो, लालच वश बचाते न रहो अपनी शक्ति सम्पत्ति तथा योग्यता द्वारा दूसरों का हित साधते रहो यही यज्ञमय जीवन है।

जिस मार्ग में चलने से कभी दुर्गति नहीं होती वही कल्याण मार्ग है, भगवान के वचनों से उसे ही समझ लो। लालच छोड़ कर दान भाव से सारे जीवन में कर्म करना ही योग बुद्धि है, यही सुन्दर उद्योग बुद्धि है, यही निष्काम–कर्म बुद्धि है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (संग्रह न करना) पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर भक्ति, दान, पुण्य आदि शुभ कर्म सत्यकर्म हैं। जिन सत्कर्मों द्वारा दोषों का नाश होता है, ईश्वरीय गुणों का पूर्ण विकास होता है, अध्यात्म ज्ञान का प्रकाश होता है, अभयपद में आवास होता है यही सत्कर्म–योग रूप मानव धर्म है।

पशुवत मानव उन्हें ही कहते हैं जो आँखों के खुली रहने पर किसी रूप को ग्रहण भले ही करते हों पर विचार नहीं कर सकते वे यथार्थदर्शी नहीं हो सकते, वे भोगी बनते हैं, परन्तु परिणाम दर्शक नहीं होते, उसी भाँति हम मनुष्य बनकर यदि बुद्धि द्वारा वस्तु के यथार्थ तत्व को और परिवर्तन होने वाले रूप को नहीं जानते तो पशुवत्हैं।

निद्रा का सुख, भोग का सुख, आहार प्राप्ति का सुख मनुष्य की अपेक्षा पशुओं को अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक मिलता है। पदाधिकार सम्मान की तृष्णा पशु में नहीं है इसीलिये उसे जब तक प्रहार द्वारा कष्ट न दिया जाये तब तक कितने कटु शब्दों द्वारा अपमान करते रहो उसे किंचित् भी दुःख नहीं होता। मनुष्य मान चाहता है इसीलिये अपमान का दुःख भोगता है।

कोई मनुष्य जब पशु पालता है तब वह पशु उसी पालने वाले का पशु माना जाता है। और वह पशु बन्धन रहित स्वतन्त्र हो जाये तो पालने वाले की ही सामग्री को नष्ट भ्रष्ट करता है, उसी प्रकार मनुष्य जीवन में पशु पला हुआ है, मनुष्य तो राक्षस दानव से भी सम्बन्ध जोड़े हुए है, इसलिये मनुष्य की महान क्षति उसी के पाले हुये पशु द्वारा अथवा सम्बन्धित राक्षस द्वारा हो सकती है।

हम अनेकों साधक मन को एकाग्र करने के लिये कुछ देर जप करते हैं, कभी कीर्तन का सहारा लेते हैं कभी सुन्दर मूर्ति के सहारे कुछ देर मन एकाग्र करना चाहते हैं कभी किसी बिन्दु में, दीपक की ज्योति में, कभी भीतर सुनाई देने वाली ध्वनियों में, मन को एकाग्र करना चाहते हैं परन्तु जब मन एकाग्र नहीं होता तब निराश होकर जो कुछ जितनी देर करते हैं उतनी देर की साधना से सन्तुष्ट होते रहते हैं।

भगवान ने जो बताया है उस पर हम साधकों को फिर से ध्यान देकर समझ लेना चाहिए।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। – गी. 6/26

मन जहाँ से चंचल होता है उसी स्थान पर वापस लाओ। बार बार लाओ। मन जहाँ लगता है वहाँ से बार बार हटाते रहो।

अभ्यास और वैराग्य दो उपाय भगवान ने बताये हैं। अभ्यास का अर्थ है कि बार–बार मन को आत्मा, परमात्मा, भगवान में लगाना और वैराग्य का अर्थ है जहां–जहां मन लगा है उसे विनाशी जानकर परिवर्तनशील जानकर बार–बार हटाना।

मन को निरन्तर देखते रहने पर अभ्यास, वैराग्य पूर्ण हो सकता है।

जब हम मन के द्वारा इन्द्रिय पथ से विषयों को भोगते हैं तब मन को नहीं देख पाते और जब बुद्धियुक्त होकर मन को देखते हैं तब मन को चंचल पाते हैं और चंचलता से घबराकर मन को देखना ही बन्द कर देते हैं। कुछ साधकों का यही निर्णय होता है कि जब हम जप, ध्यान आदि साधन में बैठते हैं तब मन जाने कहां कहां भागता है। वास्तव में साधना के समय मन भागता है, अधिक चंचल होता है– ऐसा मानना भ्रम है। मन सदा चंचल ही रहता है परन्तु उसकी चंचलता का परिचय तभी मिलता है जब मन को देखा जाता है और मन को तभी देखते हैं जब उसे हम भगवान के ध्यान में लगाना चाहते हैं।

भगवान की सम्मति मानकर हम साधकजन जब कभी जो कुछ करें तब मन को देखते रहें, उसे व्यर्थ वार्ता, व्यर्थ चेष्टा, व्यर्थ स्मरण, चिन्तन से तथा व्यर्थ दर्शन से मोड़कर सार्थक में ही लगाते रहें।

जिससे देह इन्द्रियाँ मन बुद्धि अथवा अहंकार को शक्ति, गति, चेतना मिल रही है वही निर्विकार चेतन आत्मा है।

जिसकी सत्ता से परमाणु में अणु में, वस्तु में, विश्व में गति हो रही है वही सबका परमाश्रय अखण्ड चेतन परमात्मा है।

जो स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती फिर भी जिसमें गति हो रही है वही जड़ प्रकृति है।

जिसके द्वारा देखा जाता है, सुना जाता है, गन्ध ली जाती है, स्वाद का रस आता है, स्पर्श होता है, यही विषय ग्रहण करने वाली पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं।

जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषयों की अनुकूलता, प्रतिकूलता में सुख–दुःख का रागी–द्वेषी बनता है, जो मानता और मनन करता है वही मन है।

जो भोगे हुए का, सुने हुये का तथा जो अप्राप्त है, उसकी प्राप्ति का चिन्तन करता है उसी को चित्त कहते हैं।

जिसके द्वारा सत असत धर्माधर्म कर्तव्याकर्तव्य का, अथवा यह क्या है, किसका है, इत्यादि विषयों पर विचार निर्णय किया जाता है वही बुद्धि है।

त्याग के लिये जब तक तैयारी की जाती है जिस त्याग में कष्ट श्रम होता है तब तक अज्ञान ही है। ज्ञान में देखने से अशुभ, असुन्दर, दुखद का स्वतः त्याग हो जाता है।

जो सत्य को, आनन्द को पा जाता है उसमें असत् का, अनित्य का अनायास ही त्याग हो जाता है।

परमप्रभु को पाये बिना जो मिली हुई वस्तु को अपनी मानकर त्याग करता है वही त्याग का अभिमानी होता है, त्यागी बनता है। सच्चा त्याग वही है जो स्वतः हो जाये और उसका स्मरण भी न रहे।

त्याग का, ज्ञान का, तप का जितना अहंकार होगा उतनी ही परमप्रभु से दूरी रहेगी। अहंकार ही रागी और त्यागी बनता है।

अहंकार में आसुरी वृत्तियों की प्रधानता रहती है, अहंकार के अभिमान शून्य होने पर दैवी सम्पत्ति की प्रधानता होती है।

जहाँ प्रलोभन है, कामना है, मोह है, हिंसा होती है वहाँ ज्ञानालोक नहीं है।

संसार के संग से जो तुम्हारे भीतर होगा वही प्रगट होगा जो अपनी देह में आसक्त है वही सुखद सम्बन्धियों के मध्य अटक कर भोगी बनेगा।

विचार शून्य होना ही चैतन्य ज्ञान का द्वार है। देहादिक वस्तुओं को अपनी न मानना, ज्ञानस्वरूप में बुद्धि को स्थिर करना, अहंता, ममता, आसक्ति त्याग देना सन्यास है। राग विराग, भेद भिन्नता का त्याग सन्यास है।

ज्ञान में सम्यक दर्शन से राग विराग का अभाव होता है।

जब आप कुछ नहीं बन रहे हैं, किसी के कोई नहीं है तब जो कुछ है उसे जानिये, वहीं स्वरूप का बोध होगा। शून्य होकर चैतन्य में शान्त रहना समाधि है। जो नित्य उपलब्ध है कभी अभाव नहीं वही आत्मा है।

विचार द्वारा स्वयं को नहीं, पर को जान सकते हो। ध्यान में स्वयं को देखो। कुछ भी न करना ही, ध्यान में स्वयं को देखने की विधि है।

जब हम कुछ नहीं करते हैं तब उसका बोध होता है जिसकी सत्ता में चेतना में सब कुछ करते हैं।

संसार के विषय में जानना है तो शब्दों द्वारा ज्ञान होगा क्योंकि संसार में जितने रूप हैं उतने ही नाम हैं अतः नाम की जानकारी चाहिये।

परमात्मा के विषय में जानना है तब भी शब्दों द्वारा संकेत की आवश्यकता है।

यदि परमात्मा को और सर्व प्रथम स्वयं को जानना है तब शब्दों की आवश्यकता नहीं है, शान्त और शून्य होकर ध्यान में स्थिर होने की आवश्यकता है।

जब तक चित्त शान्त न हो शून्य न हो, निर्विकार न हो तब तक दर्शन नहीं हो सकते। अपने में उतरे बिना परमात्मा की अनुभूति नहीं होती।

परमात्मा के विषय में, धर्म के विषय में जानना बुद्धि द्वारा होता है लेकिन परमात्मा की, धर्म की अनुभूति स्वयं के ही द्वारा होती है।

परमगुरु भगवान ने मनुष्य के उद्धार का यही उपाय बताया है किः—

ईश्वर को ही परम श्रेष्ठ मानो, ईश्वर की प्राप्ति के लिये दृढ़ संकल्प करो, ईश्वर को छोड़कर अन्य कुछ न चाहो। ईश्वर में ही मन लगाओ। ईश्वर को ही ध्यान से देखो। ईश्वर में ही बुद्धिस्थिर करो। ईश्वर में ही चित्त को स्थिर करो। ईश्वर में ही अपने सब कर्म अर्पण करो। अपने को ईश्वर से भिन्न अथवा अन्य न मानो। मैं परमेश्वर से भिन्न नहीं हूँ इसी को अनन्य भाव कहते हैं।

क्षेत्र और उसका स्वामी

परमगुरु भगवान ने एक विचित्र दर्शन कराया, वह यही, कि जिस देह से मिलकर हम अपने को काला या गोरा दुबला या मोटा, बालक, युवा या वृद्ध, रोगी या निरोगी, कुलीन या नीच, निर्बल या बलवान मानते हैं वह शरीर मैं नहीं हूं, यह तो मेरे महान लाभ के लिये 'इदं शरीर क्षेत्रं' यह शरीर क्षेत्र है। 'यः एतत् वेत्तितं क्षेत्रज्ञं जो इसे जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

हमें यह ज्ञात हुआ कि यह देह क्षेत्र है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है। जो एक क्षेत्र को जानता है, वह आत्मा है और जो सभी क्षेत्रों में व्यापक होकर सभी का ज्ञान रखने वाला है, वही परमात्मा परमेश्वर है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, इस ज्ञान में हम सभी साधकों को सावधान रह कर देखना है।

क्षेत्र का सरल अर्थ खेत होता है परन्तु खेत की लम्बाई, चौड़ाई, न्यूनाधिक नपी हुई दिखती है लेकिन क्षेत्र तो बहुत विशाल परिधि में होता है। क्षेत्र में पर्वत, नदी, नद, सागर तथा सोने, चांदी, लोहा, तांबा, कोयला की खानें भी हो सकती है।

जब क्षेत्र के स्वामी को क्षेत्र के भीतर होने वाली निधियों का ज्ञान होता है तब वह महान लाभ को प्राप्त करता है।

यदि क्षेत्र के स्वामी को क्षेत्र की निधियों का ज्ञान न हो और ज्ञान होने पर समुचित व्यवस्था नहीं कर पाता हो तो महान लाभ से वंचित रह जाता है। इसी प्रकार हम शरीर रूपी क्षेत्र में रहने वाले महान लाभ के साधन सामग्री को जब तक नहीं जानते और जानकर उसकी विधिवत् व्यवस्था नहीं कर पाते तब तक दीन, हीन, दरिद्र ही बने रहते हैं।

ज्ञान में देखने वाले सन्तों ने इस क्षेत्र को साधनों का धाम बताया है इस क्षेत्र में अनेकों प्रकार के साधन भरे पड़े हैं उन साधनों के द्वारा अविवेकी असावधानी के कारण महान

हानि का भोग करता है, जिनका विवेकपूर्वक सदुपयोग करते हुए परमसिद्धि प्राप्त की जाती है।

हम लाखों करोड़ों मनुष्य इस शरीर रूपी क्षेत्र में रहते हुए केवल बाहरी आकृति को देखते हुए उसी को सजाने में, उसी की रक्षा में लगे रहते हैं पर इस क्षेत्र के भीतर की शक्तियों को नहीं जानते।

अब यह समझ लेना है कि क्षेत्र के भीतर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पाँच महाभूत हैं। अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा और कर्ण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। हाथ, पांव, मुख, उपस्थ, गुदा ये पाँच कर्मेद्रिय हैं। इनके पीछे मन है और गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पाँच विषय हैं।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना धृति (धारणाशक्ति) ये सात भाव हैं। सब मिलकर 31 प्रकार की प्रकृति से युक्त यह क्षेत्र है। इसी प्रकृति में विकृति, सुकृति, संस्कृति, सब कुछ चलती रहती है।

इस शरीर रूपी क्षेत्र के भीतर जो शक्तियां हैं उनका विधिवत् उपयोग न करने वाले अज्ञानीजन अनेकों प्रकार के कष्ट भोगते हैं और विवेकीजन महान लाभ परम सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ज्ञान में अग्नि से, जल से, वायु से अनेकों कार्य सिद्ध किये जाते हैं और अज्ञान में इन्हीं अग्नि, जल आदि के द्वारा असावधानी के कारण महान हानि का दुःख भोगा जाता है।

सावधानी से जिस चाकू से फल साग काटे जाते हैं असावधानी के कारण उसी चाकू से हाथ काट लिया जाता है।

अज्ञान में असावधान रहकर इस क्षेत्र में रहने वाले हम देहाभिमानी जन इस शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि द्वारा ही लोभी, मोही, कामी, क्रोधी, भोगी, रोगी बनकर सुख के अन्त में अनेकों कष्टों का भोग करते हैं।

ज्ञान में सावधान रहकर इसी देहबल, इन्द्रियबल, मनोबल, बुद्धिबल, विद्याबल, गुण बल आदि द्वारा अनेकों साधक उदार दानी, निरभिमानी, शान्त, स्वस्थ, होकर परमशान्ति, परमानन्द का अनुभव करते हैं।

संसार में, राष्ट्र में, देश में, प्रान्त में, नगर में, जाति में, परिवार में, दो व्यक्ति में, अथवा अपने आप में जितने पाप, अपराध, संघर्ष, झगड़े, युद्ध, कलह, ईर्ष्या, द्वेष चल रहे हैं वह सब अज्ञान में ही हैं। ज्ञान में सावधान रहने वाले साधक, सज्जन ही ईर्ष्या, द्वेष, कलह, क्रोध, हिंसा आदि पापों से बचकर क्षेत्रगत शक्तियों का परहित, पर सेवा, परमार्थ में सदुपयोग करते हुए सदा परम स्वतन्त्र, निर्भय, निश्चिन्त होकर निरन्तर आनन्द में रहते हैं।

भगवान के वचनों से हम यह जान सके कि हमें अनुपम क्षेत्र मिला है परन्तु अज्ञानवश उस क्षेत्र की समुचित व्यवस्था नहीं कर सके।

किसी किसान को बहुत ही अच्छी उपज देने वाला खेत मिला हो यदि उस खेत में उत्तमोत्तम बीज बोने की व्यवस्था नहीं करता तब तो वह खेत यूं ही बंजर, व्यर्थ पड़ा रहता है और कभी कभी अनर्थकारी बीज उग कर उस खेत की उपजाऊ शक्ति नष्ट करते हैं।

इसी प्रकार हम सबको जो जीवन रूपी क्षेत्र (खेत) मिला है बहुत ही उत्तम शक्तिप्रद बीज बो कर अनेकों गुणा लाभ प्राप्त किया जा सकता है परन्तु क्षेत्र की व्यवस्था का ज्ञान न होने के कारण हम लोग महान लाभ से वंचित हो रहे हैं।

जिस प्रकार किसी भी खेत में भले और बुरे दोनों प्रकार के बीज उगते हैं और कई गुना बढ़ने पर हमें उन्हें काटना होता है, उसी प्रकार इस जीवन रूपी क्षेत्र (खेत) में पाप पुण्य के बीज उगते बढ़ते हैं जिनका भोग हमें करना पड़ता है।

जो उस खेत का मालिक है वह जैसा चाहे वैसा बीज बो सकता है। यदि अज्ञान में कोई खेत में बबूल बोयेगा तो आम का फल नहीं पा सकेगा उसी प्रकार हमें सावधान होकर अपने जीवन क्षेत्र में दुःख देने वाले पाप कर्म के बीज नहीं बोना चाहिये पुण्य के बीज बोकर अनुकूलता का सुख भोगना चाहिये।

जहाँ कहीं हमें प्रतिकूलता का दुख भोगना पड़ता है वह हमारे ही बोए हुए अर्थात् किये गए पाप कर्मों का परिणाम है। हमारे सामने जो भी सुखद दुखद आता है उसका हेतु दूसरा कुछ नहीं है; अपने बोए हुए को ही हम भोग रहे हैं।

हमें दूसरे के वैभव ऐश्वर्य को देखकर दरिद्र की भाँति ललचाना नहीं चाहिये और उसकी भीख नहीं मांगना चाहिये, नीचता वश बल पूर्वक छीनकर, लूटकर लेने का कुसंकल्प भी नहीं उठाना चाहिये, प्रत्युत भगवान के आदेशानुसार पुण्य कर्म करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करते हुए सन्तुष्ट प्रसन्न रहना चाहिये। पापों से सदा बचकर पुण्य कर्म करते रहने से प्रभु के विधान से सभी कुछ शुभ सुन्दर सुलभ होता रहता है।

भगवान ने यह भी निर्णय किया है कि जिस प्रकार खेत की भूमि उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तीन प्रकार की होती है उसी प्रकार यह प्रकृति का बना हुआ शरीर रूपी क्षेत्र भी सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। जिस प्रकार निकृष्ट खेत को अच्छी खाद द्वारा उत्तम बना लिया जाता है उसी प्रकार तमोगुणी क्षेत्र को साधु संगति से यम, नियम, सदाचार, शुद्धाहार, योगाभ्यास, साधना द्वारा सात्विक प्रकृति में परिणत किया जाता है।

जिस प्रकार अच्छे किसान खेत की बंजर भूमि को प्रयत्न करके कई फसलें काटकर धनी हो जाते हैं। उसी भाँति सज्जन विद्वान क्षेत्र की अच्छी व्यवस्था करके दैवी सम्पत्ति के धनी होकर आध्यात्मिक ज्ञान विज्ञान द्वारा परमशान्ति, मुक्ति, भक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

शरीर रूपी क्षेत्र का अपने को स्वामी जानकर शरीर की दासता से अर्थात् मोह, ममता, लोभ, अभिमान आदि दोषों से मुक्त हुआ जाता है।

संसार रूपी क्षेत्र के परमेश्वर को स्वामी जानकर संसार की दासता से मुक्त होकर पुरुषोत्तम परमेश्वर का भक्त हुआ जाता है।

धर्म के विषय में

हम स्नान करके शुद्ध रहने को मन्दिर में अथवा तीर्थदर्शन कुछ पाठ तथा प्रचलित पूजा प्रार्थना–पद्धति के दुहराते रहने को ही सनातन धर्म मानकर अपने को धर्मात्मा समझते थे परन्तु अपनी संकीर्ण बुद्धि का परिचय भगवान के शब्दों द्वारा मिला। वास्तव में धर्म के विषय में कुछ सुनकर पढ़कर हमने मान लिया था, यथार्थ धर्म क्या है, यह अब जानने में आया।

भगवान ने बताया कि स्वधर्म ही तुम्हारे लिये श्रेय सिद्धि का साधन है, पर–धर्म भय से घिरा है।

हम अभी तक 'स्व' को ही नहीं जानते थे देह को ही 'स्व' मानते थे सम्बन्धित वस्तुओं को तथा कुछ व्यक्तियों को अपनी मानकर मोही अभिमानी बने हुए थे। जब ज्ञात हुआ कि देह मैं नहीं हूं, और जो कुछ देह से सम्बन्धित पदार्थ हैं अथवा सम्बन्धी जन हैं, वे मेरे नहीं हैं हमें मिले हैं परन्तु हमारे लिये भी नहीं हैं।

भगवान ने निर्णय किया है कि जो विशेष रीति से देखता है, और देखे हुए पर विचार करता है उसे (विपश्चित) ज्ञानी कहते हैं और जो देखे हुए पर विचार नहीं करता उसे (अविपश्चित) अज्ञानी कहते हैं। अज्ञानी ग्रहण करता है, ज्ञानी ग्रहण किये को देखता है।

मनुष्य का धर्म है कि जो कुछ भी अपने सामने हो जो भी दिखाई देता हो उसे अपना न मानकर विचार करे। जो मनुष्य इस धर्म का पालन नहीं करता वह दो पैर वाला पशु ही है।

जिससे अहंकार भरता जाये अर्थात् दोष दुर्गुण बढ़ते जायें जो पतित बनाये वही पाप है, वही अधर्म है।

पूर्ण धर्मात्मा वही है जिसमें परमात्मा से दूरी नहीं रहती जिसमें अहंकार नहीं रहता, जो निरन्तर अविनाशी होकर विनाशी को देखता है।

धर्माचरण द्वारा ही मनुष्य जड़त्व की सीमा को पार कर के नित्य चेतन घन परमात्मा का योगी होता है देह से आत्मा तक जो मार्ग है वह धर्म पथ है। धर्माचरण वही है जिससे दोष दुर्गुण मिटते जाते हैं सद्गुण सद्भाव पूर्ण होते जाते हैं।

धर्माचरण से शुद्ध हुए अन्तःकरण वाले साधक को सभी में परमात्मा का वास दिखता है उसके लिये सभी घटतीर्थमय दिखने लगते हैं। उसे सभी मन्दिर भासते हैं धर्माचरण ही पूजा बन जाता है।

पूर्णतया धर्माचरण से जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं होती वही संकुचित भाव के सहारे छोटे छोटे मन्दिर बनाकर भगवान की प्रतिष्ठा करके कुछ सामग्री द्वारा पूजा करके सन्तुष्ट होते हैं।

भगवान के निर्णय अनुसार हम साधकजनों को मन की इच्छापूर्ति में प्रतीत होने वाले सुखास्वादन में आसक्त न रहकर, बुद्धियुक्त होकर, कामना का त्याग कर, फलाशा न रखकर,

बुद्धि द्वारा धर्म को धारण करना चाहिये। धर्माचरण में कहीं आलस्य न आने देना चाहिये। सर्वहितकारी कार्यों में निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। स्वच्छन्दता का, प्रमाद का विरोध करना चाहिये। प्रत्येक कार्य कुशलता पूर्वक पूर्ण करना चाहिये।

जब तक हम साधक मानव बुद्धि युक्त न होकर मन की रूचि अनुसार चलते हैं तब तक प्रायः जिस समय जो कुछ करना चाहिये वह कर्तव्य कर्म भूल जाते हैं, अकर्तव्य कार्यों में शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, कोई कार्य आरम्भ करते हैं उसे बीच में ही छोड़ देते हैं, किसी त्यागी, ज्ञान सम्पन्न विरक्त सन्त महात्मा में श्रद्धा नहीं रखते अपनी ही समझ को ठीक मानते हैं, श्रेष्ठ विद्वानों की, वृद्धगुरुजनों की सम्मति नहीं लेते। धर्म शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते; इसलिये संशय रहित नहीं हो पाते।

संशय के कारण बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती। लोभ, मोह तथा कामनाओं के कारण स्वस्थ, आत्मस्थ नहीं हो पाते ऐसे मनुष्य आत्मवान नहीं हो पाते देहवान, अभिमानी, मोही, लोभी बने रहते हैं।

विषमता में अधर्म पुष्ट होता है समता में ही धर्म पूर्ण होता है।

ज्ञान में अथवा परमात्मा में अथवा भगवान की आज्ञानुसार जीने की जो विधि है उसे ही धर्म कहते हैं।

अज्ञान

जो अज्ञान में है वही असाधक है, अज्ञान में ग्रहण होता है, अज्ञान में ग्रहण का भोग होता है, अज्ञान में हिंसा है, क्रूरता है, अभिमान है, घमण्ड है, अज्ञान में अशान्ति है शोक है, कुटिलता है, कपट है, गर्व है, गुरु का विरोध है, अपवित्रता, मलिनता है, चंचलता, आतुरता है असंयम है, कामाचार है, विषयों में आसक्ति है, अज्ञानी अहंकार, अभिमान से युक्त हैं, अज्ञान में दोषों की वृद्धि है और दुःख है, अज्ञान में परिवार से अपनत्व है, परिणाम का भोग है, सुखद में ममता है, अज्ञान में कर्ता भोक्ता बनता है, अज्ञान में स्वार्थ का पक्ष है, दृश्य से संयोग है, अज्ञान में जन संसर्ग प्रिय लगता है, भौतिक सुखों की लालसा होती है, प्रपंच चर्चा भाती है, अज्ञान में अनित्य वस्तुओं का भोग है, अज्ञान में तमोगुण, रजोगुण प्रधान है, अज्ञान में कुतर्क है, अश्रद्धा रहती है, परतन्त्रता है रागद्वेष है, आलस्य प्रमाद रहता है, प्राप्त का दुरुपयोग होता है, वासना पूर्ति की जाती है, वस्तु व्यक्ति से लोभ मोह होता है, अज्ञान में अविद्यावश, बन्धन हैं, भेदभाव प्रबल रहता है, अज्ञान में क्षेत्र की अव्यवस्था रहती है, जीव प्रभु से विमुख रहता है, अहंकार की पुष्टि होती है, बहिर्मुख वृत्ति होती है, बोलने की प्रवृत्ति है, अज्ञान में काम ही काम है, असत् की प्रतीति है, आत्मा को न जानना अज्ञान है।

ज्ञान

जो ज्ञान में देखता है वही साधक है। ज्ञान में यथार्थ दर्शन होता है। दर्शन होने पर योग होता है। ज्ञान में अहिंसा है प्रेम की पूर्णता है। निरभिमानता है सरलता है। ज्ञान में शान्ति है, प्रसन्नता है। विनम्रता है निश्छल सौम्यता है। सहिष्णुता है, गुरु की सेवा है, ज्ञान में पवित्रता निर्मलता है। स्थिरता, दृढ़ता शौर्य है। ज्ञान में संयम है, सदाचार है। विषय–विरक्ति

है, धर्मानुरक्ति है। ज्ञान में अहं, अभिमान से मुक्त है। ज्ञान में दोषों का दर्शन है, दुःख से मुक्ति है। ज्ञान प्रभु के प्रतिपूर्ण अपनत्व है। ज्ञान में भोग के प्रथम ही परिणाम दर्शन है। सुखद–दुखद में समता है। ज्ञान में द्रष्टा, साक्षी, निर्लिप्त रहता है। ज्ञान में परार्थ परमार्थ सिद्धि का पक्ष है। ज्ञान में अदृश्य से नित्य योग है। ज्ञान में एकान्त एकाकी रहना प्रिय होता है। आध्यात्मिक शान्ति की प्यास होती है। ज्ञान में अध्यात्म चर्चा ही अति प्रिय होती है। ज्ञान में नित्य सत्य का योग होता है। सतोगुण की प्रधानता रहती है। समाधान प्रद श्रद्धा रहती है। ज्ञान में स्वतन्त्रता है, त्याग प्रेम की पूर्णता है। ज्ञानी श्रमी, कर्तव्य परायण होता है। ज्ञान में प्राप्त का सदुपयोग होता है। विभूति की उपासना होती है। ज्ञान में सर्वगत प्रभु से प्रेम होता है। ज्ञान में ब्रह्म विद्या द्वारा मोक्ष है। ज्ञान में अभेद भाव से एकत्व का बोध होता है। ज्ञान में क्षेत्र की सुव्यवस्था होती है। ज्ञान में प्रभु के सम्मुख होता है। ज्ञान में अहंकार का दर्शन होता है। अन्तर्मुखी वृत्ति रहती है। ज्ञान में मौन है, वृत्ति की निवृत्ति है। नित्य विश्राम है। ज्ञान में सत् की निरन्तर प्राप्ति है। केवल ज्ञानमात्र आत्मज्ञान है।

जन्म लेने के पश्चात् सम्बन्धियों ने जो कुछ अपना सम्बन्ध बताया वही हम मानते गये, स्वीकार करते गये, हम अपने को किसी का पुत्र, किसी के बन्धु, किसी के पिता आदि अपने को समझ बैठे। अब हम सब साधकों को भगवान की बात सुनना चाहिये।

भगवान कहते हैं 'तुम मेरे सनातन' (सदा से ही) अंश हो। अर्थात् जीव रूप में तुम परमात्मा से कभी पृथक नहीं हो।

जिस प्रकार महासागर में एक जल बिन्दु, जिस प्रकार सूर्यप्रभा में एक किरण, जैसे प्रज्वलित अग्नि में एक चिंगारी है वैसे ही परमात्मा में हम जीवात्मा हैं परमात्मा से कभी पृथक नहीं हैं।

जिस प्रकार घट के भीतर आकाश, मठ के भीतर आकाश होने से महदाकाश से भिन्नता नहीं होती इसी प्रकार परमात्मा का अंश कहने से परमात्मा से जीवात्मा की भिन्नता नहीं होती।

ज्ञान से मनुष्य को उन्नति, सद्गति, परमगति तथा मुक्ति मिलती है।

परमगुरु भगवान का निर्णय है किः– ज्ञान के समान इस जगत में कोई दूसरी वस्तु पवित्र नहीं है। किन्तु ज्ञान वही प्राप्त कर पाता है जो श्रद्धावान हो साथ ही संयमी हो और कर्तव्य पालन में तत्पर हो। (गी0 4/38–39)

पापी से पापी मनुष्य को भी ज्ञान दिये जाने पर उस ज्ञान से उसके पाप दूर हो जाते हैं। पुण्यवान जनों का भी उद्धार ज्ञान से ही होता है ज्ञान के स्त्री, शूद्र, वैश्य, क्षत्री आदि सभी अधिकारी हैं।

भगवान ने यह भी बताया है कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान है। ज्ञान जब अज्ञान से ढक जाता है तब मनुष्य मोही हो जाता है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रहता।

तम

भगवान का निर्णय है कि हम साधकों को तमोगुण के लक्षणों को अपने भीतर स्थान न देना चाहिये। भगवान ने बताया है कि जब कभी तुम में अज्ञान की प्रधानता हो, मोह प्रबल हो, प्रमाद अर्थात् विपरीत कार्य ठीक दीखता हो, आलस्य हो, अधिक निद्रा आती हो, सुस्ती रहती हो, कर्तव्य पालन में अरुचि हो, अधःपतन हो, अश्रद्धा हो, स्वार्थ प्रबल हो, दान का संकल्प कर लेने पर न देने की प्रवृत्ति हो, मन सदा तन धन परिवार में ही अटका हो, दूसरे के अनिष्ट करने की कुवृत्ति हो, विचार हीनता, हठ शठता नीचता हो, प्रायः खेद से भरा रहना, किसी काम को देर से करना, अहंकार की प्रबलता, विपरीत ज्ञान आदि यह सब तमोगुण के लक्षण हैं।

हम साधकों को आत्म निरीक्षण करते रहना चाहिए, क्योंकि सद्गुणों के साथ अर्थात् सतोगुणी स्वभाव के साथ तमोगुणी प्रवृत्ति भी चलती रहती है।

हम सभी साधकों को सतोगुण की पूर्णता के लिये ज्ञान बढ़ाने के लिये, सेवा तथा दोषों के त्याग के लिये सदा, उत्साहित रह कर दूसरों की भलाई के अवसर देखते रहना चाहिये। शुभेच्छा, सुविचार, दान सरलता श्रेष्ठता, प्रसन्नता, अहिंसा, शुभ कार्य में शीघ्रता विनम्रता आदि सद्गुणों को ही अपनाना चाहिये।

पण्डित कौन

हम ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले को अथवा पुरोहिताई करने वाले को पण्डित मान रहे थे और संस्कृत भाषा के ज्ञाता को शास्त्र श्रुति स्मृति पढ़ने– पढ़ाने वाले को विशेष विद्वान महापण्डित समझते थे परन्तु भगवान ने तो पण्डित के और ही लक्षण बताये।

भगवान का निर्णय है कि वेद शास्त्र का विद्वान यदि विनाशी वस्तुओं के संयोग से हर्षित होता है और वियोग से व्यथित शोकित होता है तो पण्डितों की बातें भले ही दोहराता रहे परन्तु वह वास्तव में पण्डित नहीं है।

पण्डित वही है जिन्हें अविनाशी आत्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान है वे किसी के जीते रहने या मर जाने, चले जाने पर शोक नहीं करते।

पण्डित वही हैं जो समदर्शी होते हैं। जो नित्य निरन्तर सम हैं उसे ही ब्रह्म कहते हैं जो सब में सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं वह तत्वदर्शी पण्डित हैं।

ऊँच नीच में समवृत्ति होना, सुख–दुख में सम भाव रहना, चराचर को समदृष्टि से देखना जिसके लिये सहज स्वभाव हो गया है वही पण्डित है।

जो कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेकी हैं वही तत्ववेत्ता पण्डित हैं। जो फलासक्ति का त्याग करके कर्म करते हैं जो सूक्ष्मदर्शी हैं, जिनकी मूढ़ता दूर हो गई है, जो तन में, धन में, पदाधिकार में, मान में तथा नाम में नहीं अटके वही असम्मूढ़ पण्डित हैं। जो पाप रहित हैं, जिनका मन शान्त है, सम भाव में स्थित हैं वही भगवान के मतानुसार पण्डित हैं।

जिनके सभी कार्य कामना से रहित संकल्प के बिना होते रहते हैं, जिनके दोष ज्ञान से समाप्त हो जाते हैं उन्हीं को ज्ञानी पण्डित कहते हैं।

परमात्मा का स्वरूप

जिसमें मन, बुद्धि, अहंकार और चैतन्य दीखता है वही परमेश्वर का शरीर है, वह सब परमेश्वर का ही प्रकट अथवा अप्रगट रूप है, परमेश्वर ही यह सब है, वही वासुदेव है वही सर्वात्मा के रूप में परमात्मा है।

उस परमात्मा को सर्वमय देखते हुये फिर उसी के विषय में सुनना चाहिये और पश्चात्, मनन, निदिध्यासन करना चाहिये।

परमात्मा दर्शन प्रथम है और स्मरण तीसरे स्थान में है। परमात्मा का दर्शन एक आकृति में नहीं प्रत्युत सर्वाकार, जगदाकार, विश्वाकार परमात्मा का दर्शन है।

वेदवक्ताजन उसी परमात्मा को अक्षर कहते हैं। जो कुछ दृश्यमान जगत है यही परमात्मा का सगुणरूप है।

वह परमात्मा 'कवि' है अर्थात सर्वज्ञ है, परमज्ञानी है, विज्ञानी है परमतत्वज्ञ है, त्रिकालदर्शी है, चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता है।

वह 'पुराण' है अर्थात् पुरातन है, अति नवीन भी है, वृद्ध होता हुआ भी तरुण है। सबका शासनकर्ता है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, सबका एक मात्र आधार है, परम तेजस्वी है, उसमें तम अन्धकार नहीं है। इसी दिव्य पुरुष को ध्यान से देखना चाहिये।

सद्भाव की प्रबलता में भगवान से संबंध रखने वाले भक्त के यह सुन्दर उद्गार हैं।

तुम्हारे चरणों में

मिलता है सच्चा सुख केवल, भगवान तुम्हारे चरणों मे।
यह विनती है पल–पल छिनछिन, रहे ध्यान तुम्हारे चरणों में।।
चाहे बैरी सब संसार बने, चाहे जीवन मुझपर भार बने।
चाहे मौत गले का हार बने, रहे ध्यान तुम्हारे चरणों में।।
चाहे कष्टों ने मुझे घेरा हो, चाहे चारों ओर अँधेरा हो।
पर चित्त न डगमग मेरा हो, रहे ध्यान तुम्हारे चरणों में।
चाहे काँटों में मुझे चलना हो, चाहे अग्नि में मुझको जलना हो।
चाहे छोड़ के देश निकलना हो, रहे ध्यान तुम्हारे चरणों में।।
तुमहीं सब मय यह ज्ञान रहे, मुझमें न कहीं अभिमान रहे।

प्रभु मेरे तुम यह गान रहे, रहे ध्यान तुम्हारे चरणों में।
मिलता है सच्चा सुख केवल, भगवान तुम्हारे चरणों मे।
यह विनती है पल–पल छिनछिन, रहे ध्यान तुम्हारे चरणों में।।

जीवन पूर्णता का क्रम

जीवन की पूर्णता है बस प्रेम के पाने में।
वह प्रेम सुलभ होता अहंकार मिटाने में।।
यह अहंकार मिटता जब ध्यान सधा होता।
सधता है ध्यान मन को निर्विषय बनाने में।।
मन तब विरक्त होता, जब आत्मा में रति हो।
वह आत्मरति भी होती निष्कामता लाने में।।
निष्कामता आती है जब संग दोष हटता।
रहता असंग मन है भोगों से बचाने में।।
भोगों में उसी की ही आसक्ति रहा करती।
जो कायर है परहित ब्रत धर्म निभाने में।।
अज्ञान की परिधि में सब पाप हुआ करते।
विरले ही सावधान आत्मज्ञान जगाने में।।
सेवा भजन के द्वारा भोगी भी बने योगी।
हम 'पथिक' प्रभु कृपा से आये हैं ठिकाने में।।

विभूति योग

भगवान ने कर्म के कौशल को योग बताया है और जहाँ ऐश्वर्य का शोभा का, प्रभाव का आकर्षण हो उसे ही विभूति कहा है।

प्रत्येक मनुष्य ऐश्वर्य के आगे झुकता है, शोभा सौन्दर्य में मुग्ध होता है, प्रभाव से प्रभावित होता है परन्तु अज्ञान के कारण वह किसी न किसी वस्तु अथवा व्यक्ति को ही ऐश्वर्यवान, शोभा की खान और प्रभाव से समृद्धिवान, मान लेता है परन्तु उसके पीछे परमात्मा की विभूति का ध्यान नहीं आता है।

आज हम अनेकों साधक भगवान का ध्यान करना चाहते हैं और अपनी मान्यतानुसार भगवान के प्राचीन अवतारों की मूर्तियों का ध्यान करते हैं किन्तु यह भूले हुए हैं कि आज भी जहाँ कहीं ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य का एक साथ दर्शन मिल रहा हो वह भगवान की ही विभूति है, उसकी आराधना, उपासना द्वारा परमात्मा का नित्य योगानुभव हो सकता है।

आज भी कुछ ऐसे प्रान्त हैं जहाँ भगवान राम अथवा कृष्ण के प्रति आस्था नहीं है परन्तु वहां भी जिस किसी ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य सम्पन्न सगुण साकार या सगुण निराकार के प्रति आस्था है अटूट श्रद्धा है, और सुदृढ़ विश्वास है उसके अनुसार उस प्रान्त के उपासकों को वह फल प्राप्त होता है जो भगवान राम अथवा कृष्ण के उपासकों को मिला है या मिलेगा।

प्रेमपूर्वक सरल विश्वास, अटूट श्रद्धा, दृढ़ अडिग आस्था के बल पर आज भी जिस किसी विभूति से सम्बन्ध होगा उसी के द्वारा मन चाही अभिलाषा पूर्ण होगी।

आज भी कुछ ऐसे साधक हैं जो साकार सचेतन गुरु को ही भगवान मानते हैं, कोई किसी देवी में ऐश्वर्य, माधुर्य तथा अलौकिक सामर्थ्य का दर्शन करते हुए उसे ही साक्षात् भगवती का अवतार मानकर उसकी श्रद्धापूर्वक उपासना सेवा करते हैं।

कोई किसी नदी में या वृक्ष में या किसी विशेष स्थान में आस्था श्रद्धा रखते हैं और अपनी मान्यता के अनुसार फल पाकर सन्तुष्ट होते हैं।

परमगुरु भगवान का यह निर्णय है कि सात्विक, राजस, तामस भाव, सब परमात्मा की ही सत्ता से प्रकट होते हैं तब तो हम साधकों को सावधान रहकर सभी भावों के पीछे भगवान की अनुभूति के लिये जाग्रत रहना चाहिये और समस्त भावों को मर्यादा में रखकर द्रष्टा होकर देखना चाहिये। कर्ता न बनकर द्रष्टा होना चाहिये।

परमेश्वर अपने एक अंश से इस विश्व में व्याप्त होकर सर्व का आश्रय है आदि में, मध्य में, अन्त में केवल वही है। सबके साथ, सबके हृदय में, आत्मा रूप में वही परमात्मा ही है।

हम साधकों को स्मरण रखना चाहिये कि परमेश्वर एक है उसकी सत्ता अखण्ड है परन्तु उसके ऐश्वर्य अनेक हैं। अनेक नामों रूपों के द्वारा उसी का सौन्दर्य प्रकाशित हो रहा है, उसी का माधुर्य छलक रहा है।

जहाँ ऐश्वर्य माधुर्य सौन्दर्य अपने को प्रभावित करता हो, जो हमारे लिये सुखद हो, हितकर हो रक्षक हो, तृप्तिकर हो, उसे ही परमेश्वर की विभूति जानकर श्रद्धा के साथ प्रेमपूर्वक सेवा करना उस परमेश्वर की पूजा है।

श्रद्धा के द्वारा जहाँ ईश्वरीय गुणों का परिचय मिलता है, जहाँ दोष दीखते ही नहीं वहीं पर विनाशी नाम रूप के प्रकाशक परमात्मा भगवान से सम्बन्ध हो जाता है।

जिससे सत् असत् का, धर्म अधर्म का, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का, जड़ चेतन का, आत्मा, अनात्मा का, यथार्थ बोध है, जो दोषों से रहित है सबके हित में तत्पर रहता है, जो सदैव आत्मा के ध्यान में जाग्रत है, अटूट उत्साह है, जो तेजस्वी है, जिसकी सर्वत्र उन्नति है, उत्कृष्ट भाव वाला दानी है, विवेकी है, अहिन्सा व्रती है, सरल है, जिसमें कहीं कठोरता, क्रूरता, शठता नहीं है जो जन समाज में श्रेष्ठ है, जो शोक, भ्रम, खेद से रहित है, जो कुशल कर्मी है सत्यदर्शी, परिणामदर्शी, दया, करुणा, उदारता, सहिष्णुता से भरा है वही महात्मा पूर्ण परमात्मा की विभूति है उसकी उपासना, भगवान की ही उपासना है।

परमगुरु भगवान ने अपने दो रूपों का परिचय दिया हैः– एक तो है **(वृष्णीनां वासुदेवाऽस्मि) (गी0 10।37)।** वासुदेव नामक विभूति भगवान श्री कृष्ण हैं। दूसरा है **(वासुदेवः सर्वम) (गी0 7/19)।** भगवान श्री कृष्ण का दूसरा रूप, विश्व रूप है। इस विश्व रूप में सभी नाम रूपों के प्रकाशक, सभी नाम रूपमय परमात्मा को जानकर परमात्मा की भावना से जो सेवा किसी प्राणी की की जायेगी वह भगवान की विभूति पूजा होगी।

यह भगवद् भाव से की जाने वाली सेवा ही पूजा और यह पूजा, भगवान का भजन है।

आजकल भगवान की पूजा को हमने केवल मूर्ति पूजा में ही सीमित कर लिया है और जप को ही भजन मान लिया है किन्तु भगवान के वचनों पर ध्यान देने से ज्ञात हो रहा है कि भगवान ने जो विभूतियाँ बतायी हैं वह आज भी किसी न किसी रूप में हमारे सामने हैं।

परमगुरु भगवान कृष्ण के रूप में अपने को विभूति बता रहे हैं अर्जुन को भी विभूति कह रहे हैं भगवान राम के रूप में परमात्मा की ही विभूति कह रहे हैं।

भगवान राम एवं भगवान कृष्ण में अनन्त ऐश्वर्य, अनुपम सौन्दर्य, अगाध माधुर्य के दर्शन हो रहे थे इसलिये उस समय की यही अद्वितीय विभूति थे इसीलिये उस युग में इन्हीं की पूजा हो रही थी। आज के समय में भी इन्हीं की पूजा प्रचलित है।

सर्वत्र परमात्मा ही जो निराकार है वही साकार हो रहा है वही सर्वाधार है, सर्वाकार है परन्तु जब तक इस प्रकार की दिव्य दर्शन की दृष्टि नहीं खुलती तब तक उस परमेश्वर को किसी एक मूर्ति में देखने की, पूजने की सरल विधि प्रसारित की गई है, इसी भाव से मूर्ति में भगवान की पूजा का प्रचार सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है।

एक मूर्ति में परमेश्वर को प्रतिष्ठित मानकर पूजा आराधना करते करते पूर्ण रूप से अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर समस्त विश्व ही परमात्मा की मूर्ति दर्शित होती है यही आराधना अथवा मूर्ति उपासना की अन्तिम सिद्धि है।

भगवान की सुनने पर यह ज्ञात हो सका है कि आज अभी परमेश्वर अपनी विभिन्न विभूतियों के स्वरूप में हम सभी के आस पास विद्यमान होता है परन्तु हम लोग श्रद्धा न होने के कारण पहिचान नहीं पाते।

श्रद्धा द्वारा भगवान की विभूतियों से सम्बन्ध जुड़ता है। श्रद्धा द्वारा ही भगवान का ज्ञान सुलभ होता है। प्रेम द्वारा आनन्द सुलभ होता है। विश्वास द्वारा भगवान की ऐश्वर्यशक्ति का योग होता है।

प्रायः आज प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किसी महात्मा रूपी भगवान की विभूति में अटूट श्रद्धा रखने वाले साधक अनेकों चमत्कार देखते हैं। प्रायः श्रद्धा के द्वारा ही अनेकों कष्टों से, दुःख से छुटकारा पाते हैं; उसी महात्मा को अश्रद्धालु जन असाधु मानकर उससे घृणा करते हैं, निन्दा करते हैं, अशान्त होते हैं। श्रद्धालु जन जिसके दर्शन मात्र से आनन्दित होते हैं उसी को देखकर अश्रद्धालु जन सन्तापित होते हैं। मनुष्य अपनी दृष्टि के अनुसार ही संसार की वस्तु व्यक्ति के विषय में सुखद दुखद, शुभ अशुभ निर्णय करता है।

एक ऐसी दृष्टि है कि सर्वमय परमात्मा ही दीखता है। एक ऐसी दृष्टि है कि विशेष ऐश्वर्य माधुर्य युक्त विभूति में परमेश्वर दीखता है। किसी की दृष्टि में देवताओं और किसी की दृष्टि में सन्त महात्मा के रूप में भगवान दीखता है।

परमगुरु भगवान के निर्देशानुसार हम साधकों को बुद्धियुक्त होकर सृष्टि के सभी नामों एवं रूपों तथा भावों के पीछे परमात्मा को ही ध्यान से देखने का अभ्यास पूर्ण करना चाहिये।

जहाँ कहीं भी हमें सद्गुण दिखाई दे, सौन्दर्य दिखाई दे, जहाँ कहीं ऐश्वर्य आकर्षित करे, वहीं परमात्मा की ही महिमा देखनी चाहिये।

जिस किसी के प्रति हम पूज्य भाव से श्रद्धापूर्वक प्रेम के योग से अपने को समर्पित करते हैं अथवा आज भी जब हम किसी में भगवान के असीम ज्ञान को तथा अलौकिक प्रेम को अथवा दिव्य गुणों को देखते हैं और उसे भगवान की अलौकिक विभूति मान कर श्रद्धा प्रेम करते हैं तब उसी के द्वारा हम अपने प्रति भगवान की कृपा दया का अनुभव करते हैं; जिसे अश्रद्धालु जन कदापि नहीं जान सकते।

कोई भी साधक प्रेमयुक्त श्रद्धापूर्वक जिस किसी विभूति में भगवद् भावना दृढ़ कर लेता है उसी के द्वारा भगवान भावानुसार फल देता है।

परमात्मा सर्वत्र सर्वदा सब में समान भाव से विद्यमान है किन्तु वह अटूट श्रद्धा, प्रगाढ़ प्रेम के द्वारा ही प्रगट होता है, क्योंकि भगवान ही सर्व है, उसके अनन्त रूप हैं।

भगवान का निर्णय है कि जो प्रत्येक नाम रूप के पीछे तत्व को जानते हुए उसी का मनन चिंतन करते हैं उसी में चित्त को लगाये रहते हैं जिनके समस्त कर्म ईश्वर से ही सम्बन्धित हैं वही सतत योगी हैं।

परमात्मा वही है जो हमारे सो जाने पर भी सदा जागता ही रहता है, हम जहाँ जाते हैं वह साथ ही रहता है, हम खाते पीते हैं पर वह कुछ भी खाता पीता नहीं है और सदा हमें अपने में ही सुरक्षित रखता है, उस परमात्मा की जानकारी उसी को होती है जिसकी बुद्धि विवेक युक्त है। परमात्मा की भूति और विभूति का निर्णय किया गया है। संसार में जितने पदार्थ हैं वह सब ईश्वर की भूति हैं और जहाँ कहीं भी आकर्षण है, जिसमें विशेष प्रभाव है, जिसमें विलक्षण शक्ति है विशेष महत्व है चाहे वह प्रजा को वश में कर लेने वाला राजा हो, चाहे वह जनता को अपने पीछे ले जाने वाला नेता हो, चाहे वह हजारों लोगों को मुग्ध करने वाला कवि कलाकार हो या वह अपने तप त्याग ज्ञान से श्रद्धालुजनों को तृप्त करने वाला सन्ताप मिटाने वाला सन्त महात्मा हो इन सभी रूपों में परमात्मा की विभूति जानना सात्विक बुद्धियुक्त साधक का परम सौभाग्य है।

जगत के समस्त पदार्थ परमात्मा की भूति हैं और विशेष सौन्दर्य ऐश्वर्य माधुर्य युक्त प्रभावशाली होकर जो दर्शनीय है वही परमात्मा की विभूति है।

सबका मूल बीज परमेश्वर है और उसी का विस्तार यह विश्व है। अतः यह विश्व ही उसकी विभूति है। जिसे विश्व रूप में परमेश्वर के दर्शन की दृष्टि नहीं खुली उनके लिये ही

परम गुरु भगवान में ब्राह्मणों में क्षत्रियों में, स्त्रियों में, देवों में, पितरों में गन्धर्वों में विशेष विशेष विभूतियों के नामों का वर्णन किया है।

भगवान ने विद्याओं में अध्यात्म विद्या को, पशुओं में कामधेनु को, ऐरावत को, सिंह आदि को भी विभूति बताया है। पर्वतों में मेरु को, जल स्थलों में समुद्र को, गंगा नदी को, इन्द्रियों में मन को भी अपनी विभूति कहा है।

भगवान ने सत्तर विभूतियों का वर्णन किया है 'एक का अनेक हो जाना ही परमेश्वर की विभूति है' एक परमेश्वर जब अनेक ऐश्वर्यों के रूप में दर्शित होता है यही विभूति है।

परमेश्वर की विभूतियों को देखने के लिये दिव्य चक्षु की अपेक्षा है। वास्तव में अनेक भिन्न भिन्न नामों रूपों के होते हुए भी सबके आदि मध्य और अन्त में एक अखण्ड सत्ता को देखना ही दिव्य चक्षु का कार्य है।

वासना से युक्त बुद्धि, व्यवसायात्मिका बुद्धि, मेधावी बुद्धि, ऋतम्भरा बुद्धि और प्रज्ञा बुद्धि–उत्तरोत्तर बुद्धि में भेद हैं। प्रज्ञारूप चक्षु के खुलने पर ही कामात्मा के पीछे रामात्मा अर्थात् सर्वात्मा परमात्मा का बोध होता है।

भगवान के वचन सुनकर विवेकवती बुद्धि द्वारा जानते हैं पुनः ध्यान समाधियोग द्वारा परमात्मा को देखते हैं और नित्य युक्त योगी होते हैं।

भगवान ने यह भी बता दिया है कि यह समस्त विश्व मेरी ही विभूति है किन्तु इस विश्व रूप में विभूति का दर्शन उसी को होता है जो आत्म योगी हो, या फिर प्रभु प्रसन्नता की साधना साधता हो।

जब तक तन का, मन का, इन्द्रियों के विषयों का संयोग चलता है तब तक भोग होता है, आत्म योग नहीं होता और जब तक भगवान के आदेश निर्देश सन्देश के अनुसार अपने समस्त कर्मों से हम परमेश्वर की विभूतियों की सेवा पूजा नहीं करते तब तक परमेश्वर की प्रसन्नता (प्रसाद) के अधिकारी नहीं होते।

भगवान ने समझाया है कि आत्मासर्वगत है– सर्वव्यापक है अतः यह विश्व आत्मा का ही रूप है उस विश्व में हम सभी हैं। एक ही तत्व के सब रूप हैं जिस प्रकार सभी बर्तन मिट्टी के ही हैं सभी पात्र ताँबे चाँदी के हैं सभी पात्रों में ताँबा चाँदी है सभी आभूषण स्वर्ण से बने हैं सब स्वर्ण में ही हैं, सब स्वर्ण ही हैं उस प्रकार सर्व आत्मा से ही है आत्मा में ही है सर्व आत्मा ही है। सर्व भूतों में भगवान की अवस्थिति है। सब वासुदेव का ही रूप है। समस्त विभूतियाँ परमात्मा की ही हैं। परमात्मा ही विश्व रूपी प्रभु है, वह सब कुछ है।

जब सर्वमय और सब परमात्मा भगवान ही है तब उस परमात्मा को किसी भी रूप में, किसी सम्बन्ध में देखा जा सकता है। परमात्मा का सर्वत्र अनुभव तभी सम्भव है जब निरन्तर साधना के लिये साधक सावधान हो।

परमेश्वर सर्व है, सर्वमय है, इसीलिए यदि कोई पिता को परमेश्वर का रूप मानकर श्रद्धा प्रेम भाव से सेवा करेगा अथवा कोई पुत्र में भगवत् भावना दृढ़ करके सेवा करेगा। इसी प्रकार कोई गुरु को साक्षात परमेश्वर की मूर्ति मानकर पूज्य भाव से गुरु के ज्ञान की

सद्‌गुणों की उपासना करेगा, एवं कोई पत्नी पति को परमेश्वर के रूप में श्रद्धा प्रेम से सेवा करेगी; अर्थात जिस किसी नाम रूप में श्रद्धा प्रेम के योग से, अनन्य भाव की पूर्णता से सेवा रूपी भजन को साध लेगा तो उसी रूप में परमात्मा का पूर्ण योग होगा।

आस्था, श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के द्वारा ही किसी भी साधक को कहीं भी परमात्मा का साक्षात्कार होता आया है, आज भी हो रहा है, आगे भी होता रहेगा।

प्रत्येक मनुष्य में श्रद्धा प्रेम ही जड़मय है, वही चेतनमय है, वही काममय है, वही राममय है, वही ब्रह्ममय है। प्रेम ही पितामय, पुत्रमय, पत्नी तथा पतिमय, मित्रमय और गुरुमय, और वही ईश्वमय, आत्मामय, परमात्मामय है। प्रेम ही एक ऐसा परमतत्व है कि उसे जिस रूप में चाहें उसी रूप में हम देख सकते हैं। अन्त में प्रेम ही परमात्मा है।

पुरुष और पुरुषोत्तम

अज्ञान में हम इस देह को ही अपना स्वरूप मानते हैं, इस देह के जन्म एवं मृत्यु को अपना जन्म एवं मरण मानकर भयातुर रहते हैं। देह की जो जाति है तथा जो इसका रंग है वही इसका आकार है वह सब हम ही हैं– ऐसा निश्चय कर लिया है। हमें यही सुनाया गया है।

परन्तु परमगुरु भगवान जो कुछ कहते हैं वह सुनने का अवसर जब से मिला तब से हम जान सके कि यह देह मैं नहीं हूं, देह पाँच तत्वों की बनी है, यह एक भवन की तरह रहने का स्थान है। इस देह को शास्त्रों में पुरी कहा है।

इस पुरी में नव द्वार हैं, दो आंखें, दो कान, दो नासिका छिद्र, मुख तथा मूत्रेन्द्रिय और गुदा द्वार यह नव द्वार रूपी पुरी है, इसमें रहने वाला जो मैं हूं, इसे पुरुष कहते हैं।

इस देह को साधनों का धाम बताया गया है। इसमें एक साधन नहीं अनेकों साधन हैं उन्हीं ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि आदि साधनों के द्वारा हम भोगी बन रहे हैं अब भगवान की बात समझ में आने पर हम योगी हो सकते हैं।

परमगुरु भगवान का यह निर्णय है कि इस देह को एवं इसमें रहने वाले पुरुष को और अनन्त देहों और देही पुरुषों को जो अपने किसी एक अंश में धारण कर रहा है वही पुरुषोत्तम है– इस प्रकार जो जानता है वही ज्ञान है।

पंच भूत, मन, बुद्धि, अहंकार को क्षर अर्थात् नाशमान पुरुष कहते हैं, जो जीव तत्व है उसे ही अविनाशी पुरुष कहते हैं और क्षर अक्षर दोनों ही जिसमें घुल मिल एक रस हो रहे हैं, जो दोनों का परमाश्रय है उसे ही पुरुषोत्तम कहते हैं।

जिस प्रकार इस नवद्वार वाली पंचभूतों तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अन्तःकरण वाली देहरूपी पुरी में जीवात्मा पुरुष है, उसी प्रकार समस्त विश्व में रहने वाला पुरुषोत्तम परमात्मा है, विश्वात्मा ही परमात्मा है।

मैं देह हूं या देह मेरी है– ऐसा मानना अज्ञान है। यह देह प्रकृति तत्वों से बनी है और मैं देह में रहने वाला पुरुष, पुरुषोत्तम परमात्मा का हूं– ऐसा जानना ज्ञान है। शास्त्र का

यह निर्णय है कि विश्व में समस्त रूप तथा सभी रूपों अर्थात् देहों में रहने वाले जीवात्मा के रूप में एक पुरुषोत्तम परमात्मा ही प्रगट हो रहा है— यही विज्ञान में दर्शन है। अज्ञान में देह से अभिन्नता और परमेश्वर से भिन्नता रहती है। ज्ञान में देह से भिन्नता और परमात्मा से अभिन्नता दीखती है, विज्ञान में प्रकृति एवं पुरुष के रूप में पुरुषोत्तम परमात्मा की ही अभिव्यक्ति का बोध होता है।

अज्ञान में जहाँ तक अपने लिये लालच है वहीं भेद है, जहां तक किसी से भेद है वहीं भय है, जहाँ भय है वहीं तक ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि विकारों द्वारा हिंसा है, जहां हिंसात्मक प्रवृत्ति है वहीं प्रेम का अभाव है; जहां प्रेम नहीं वहां भजन हो ही नहीं सकता।

आज हम लाखों साधक माला लेकर आंख बन्द करके कुछ देर नाम जप करते हैं, इतने को भजन मान रहे हैं और भक्ति प्राप्ति की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भगवान का निर्णय है कि जो ज्ञान में दर्शन करते हुये मुझ ईश्वर को पुरुषोत्तम समझता है और इस देह रूपी पुरी में बसते हुये अपने को पुरुष जानता है वही सर्वरूपमय मुझ ईश्वर की समग्रभाव से सेवा कर सकता है इसे भगवान गुह्यज्ञान कहकर समझाते हैं।

पुरुषोत्तम परमात्मा का ही यह अखण्ड विश्वरूप है। उसी विश्वरूप में हम भी हैं; इससे यही सिद्ध होता है— परमात्मा पुरुषोत्तम हम मय है और उससे हम बाहर नहीं हैं।

पुरुषोत्तम परमात्मा में ही जीव तत्व है। जीव में ही अहंकार है। अहंकार में ही मन बुद्धि है। मन बुद्धि में ही आकाश है। आकाश में ही वायु है। वायु में ही तेज है, तेज में ही जल है जल में ही पृथ्वी है। जो ब्रह्माण्ड में है वही इस देह रूपी पिण्ड में है।

सन्यास योग

सन्यास मानव समाज में बहुत ही प्रचलित शब्द है। मनुष्य की पूर्णता के लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चार पुरुषार्थ बताये गए हैं उनमें मोक्ष के लिये सन्यास आश्रम अन्तिम पुरुषार्थ सिद्धि का साधन है।

अभीष्ट सिद्धि के लिये विशेष श्रम का जो क्षेत्र होता है उसे ही आश्रम कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये महान श्रम की जिसमें सुविधा है वही सन्यास आश्रम है।

हम सन्यास का इतना ही अर्थ जानते थे कि जो घर परिवार छोड़कर गैरिक वस्त्र पहिन कर दण्ड धारण कर लेता है, अग्नि नहीं छूता है, रुपया पैसा नहीं छूता है, जो वेष परिवर्तन के साथ अपना नाम भी बदल लेता है वही सन्यासी है; परन्तु परमगुरु के महावाक्यों से सन्यास का विलक्षण रूप दर्शित हुआ।

जो मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता, किसी की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता और जो सुख दुःखादि द्वन्द्वों के प्रभाव से विचलित नहीं होता अर्थात् निर्द्वन्द रहता है वह नित्य सन्यासी है। —(गी0 5/3)

भगवान के मत से (1) इच्छा न करना (2) द्वेष न करना (3) द्वैत भाव त्याग देना, यह तीन लक्षण नित्य सन्यासी के हैं।

जो विषयों में नहीं फँसता, कर्मों के फल में आसक्त नहीं होता, जो मन के संकल्पों को त्याग देता है वही योग–युक्त सन्यासी है।

न्यास का अर्थ है समर्पण। न्यास में जीवात्मा का परमात्मा के प्रति समर्पण होता है। परमात्मा में जीवात्मा के समर्पण का जो विशेष ज्ञान होता है इसी को सन्यास विज्ञान कहते हैं।

भगवान ने जिसे सर्व गुह्यतम बतलाया है वह यही है– सर्व धर्मों को छोड़कर मेरी अर्थात् मुझ पुरुषोत्तम की शरण आ जा मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा; तू शोक मत कर। –(गी0 18/66)

सर्व धर्म का अर्थ है देह धर्म, इन्द्रिय धर्म, मनो धर्म, और अन्यान्य प्रचलित धर्म की ओर न देखकर परमात्मा पुरुषोत्तम को ही देखना और सब कुछ उन्हीं का जानकर ममता, आसक्ति, कामना का सर्वथा त्याग देना, केवल उन्हीं की ही सत्ता में उन्हीं के द्वारा सब कुछ होते हुए देखना, स्वयं कर्ता न बनना यही नित्य न्यास सन्यास है।

नित्य सन्यास में विचार–विचारक, कर्ता–भोक्ता, अहंकार समाप्त हो जाता है केवल मौन, शान्त, दृष्टा, साक्षी होकर रहता है। सन्यास सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है।

न्यास की पूर्णता में कुछ भी अपना नहीं दीखता तब 'मैं' भी नहीं रह जाता; क्योंकि जहाँ तक कुछ 'मेरा' है वही मैं की सीमा है जब सर्वस्व प्रभु का है अथवा प्रभु ही हैं तब समर्पण करना नहीं होता अपितु समर्पण की अनुभूति होती है; यही सन्यास की पूर्णता है।

जब हमने कुछ बनाया नहीं, हमें सब कुछ अनन्त से मिला है जब अपना कुछ नहीं है तब अर्पण क्या किया जाय। सब कुछ परमात्मा का ही है वही सर्वमय हैं ऐसी अनुभूति सन्यास है।

कोई गेरुवे वस्त्र भले ही न पहिने, बांस का दण्ड भले ही न धारण करे जो कामना अहंता ममता का त्यागी है वह किसी वेष में सन्यासी ही है।

(1) जिस में किसी प्रकार की कांक्षा है इच्छा है वह असन्यासी है।

(2) जिसमें कांक्षा मिट गई है वह कामना रहित सन्यासी है।

(3) जो द्वेष करता है वह असन्यासी है, जो द्वेष से रहित है वह सन्यासी है।

(4) जो द्वैत भाव में है वह असन्यासी है, जो द्वैत छोड़ चुका है वह सन्यासी है।

(5) जो बन्धन में है वह असन्यासी है, जो बन्धन से मुक्त होता है वह सन्यासी है।

नित्य सन्यासी निर्द्वन्द्व है, इसीलिये परमात्मा से एकत्व का अनुभव करता है। वह द्वेष रहित है इसीलिये अखण्ड प्रेम में होता है। वह कांक्षा नहीं करता इसीलिये नित्य सन्तुष्ट रहता है। जो कुछ नित्य सन्यासी के लक्षण भगवान ने बताये हैं इससे अनित्य सन्यासी के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात् जो कामना, वासना, अहंता, द्वेष, द्वैत भाव छोड़ने का प्रयत्न कर रहा है, जो ऊपर से त्यागी दिखाई देता है पर भीतर से पूर्णतया त्यागी नहीं हो पाया

है, ऊपर से शान्त है, ध्यानस्थ, मौन, त्यागी दीखता है पर भीतर कभी–कभी अशान्ति, चंचलता, और राग–द्वेष की भावना जागती रहती है, वही अनित्य सन्यासी है। योगेश्वर भगवान नित्य सन्यासी होने का आदेश देते हैं। वही नित्य सन्यासी हो सकता है जो संयोग की आसक्ति और वियोग के भय को छोड़ चुका है, आसक्ति और भय उसी के छूटते हैं जो नित्य प्राप्त परमात्मा का योगी है, योग अभ्यास के साधे बिना सन्यास दुखप्रद होता है, यह भी भगवान का निर्णय है।

जो मनुष्य कर्म करता है परन्तु उसका फल अपने उपभोग के लिये नहीं चाहता वही सन्यासी है और वही योगी है। जो कर्म का त्याग करता है, अग्निहोत्रादि नहीं करता वह सन्यासी योगी नहीं है। (गी0 6।1)

भगवान के मत में जो अपने संकल्प को त्याग देता है वही सन्यासी है योगी है।

जगत में सकाम कर्म करने वालों तथा सकाम पूजा पाठ, हवन, यज्ञ करने वालों की, कथा, प्रवचन, उपदेश सुनाने वालों की संख्या बहुत है। दान, सेवा, जप जो कुछ भी किया जाता है वह धन अथवा भोग सुख या फिर मान पद या नाम के लिये ही किया जाता है इसीलिये गृहस्थ, साधक, पुजारी, दानी, व्रती प्रायः सभी अशान्त हैं।

हजारों लोग भगवान को मानते हैं गीता, वेद, शास्त्रों को, साधु सन्त गुरु को मानते हैं परन्तु भगवान का तथा गीता, वेद शास्त्र, सन्त, सदगुरु का उपदेश, आदेश नहीं मानते।

जो कुछ कर्मानुसार तन धन परिवार मिला है उसे अपना मानना नहीं छोड़ते। भगवान का ही सब कुछ समझकर ममता, लोभ, अभिमान का त्याग नहीं कर पाते इसीलिये सब बन्धन से दुखी होते हैं।

(1) जब तक लौकिक या दिव्य काम सुख की आसक्ति बनी रहती है। (2) जब तक निन्दा क्रोध कृपणता का पूर्णतया त्याग नहीं हो जाता है। (3) जब तक किसी के लिये अनुरोध विरोध चलते रहते हैं। (4) जब तक प्रिय में आसक्ति तथा अप्रिय में उदासीनता नहीं छूटती है। (5) जब तक किसी आश्रय की आवश्यकता प्रतीत होती है। (6) जब तक कोई न कोई उपाधि साथ रहती है। (7) जब तक किसी से घृणा और किसी ग्रहण योग्य का लोभ बना रहता है। (8) जब तक मन में, वाणी में, कर्म में, धर्माचरण के साथ अधर्म का भी कुयोग चलता रहता है।

(9) जब तक धन की या किसी संयोग के भोग की अथवा मान की या अपने नाम की तृष्णा बनी रहती है।

(10) जब तक किसी प्रकार का संशय बना रहता है।

(11) जब तक मन से, वाणी से, तन से कभी–कभी हिंसा बन जाती है।

(12) जब तक अतीत (बीते हुए) की स्मृति और भविष्य का चिन्तन हृदय को हर्षित (13) शोकित करता रहता है।

(14) जब बुद्धि और प्रज्ञा अशुद्ध रहती है।

(15) जब तक अहंकार अनुकूलता का रागी, प्रतिकूलता में द्वेषी क्रोधी बना रहता है, तब तक सन्यास पूर्ण नहीं होता।

जो कर्म फल का त्याग करता है, जो कर्तव्य कर्मों को कुशलतापूर्वक पूर्ण करता है, जो संकल्प का त्याग करता है वही सन्यासी योगी है।

जो सन्यास है वही योग है।

जो कर्म का फल अपने भोग के लिये चाहता है दूसरों को नहीं देता कर्तव्य कर्म नहीं करता, जो नहीं करना चाहिये वह भी करता है ऐसा गृह को छोड़ देने वाला भी सन्यासी नहीं है।

निर्वाण स्थिति

हम कुछ इधर उधर सुन करके जो जटाओं को राख लगा कर सुनहली बना ले देह में खाक मलता रहे धूनी तापे और वस्त्र धारण न करे उसे निर्वाण सन्त मानते थे परन्तु जब भगवान के वचनों को पढ़ा सुना तब ज्ञात हो सका किः–

(1) जो पापों को नष्ट कर लेता है (2) द्वैत भाव से दूर हो जाता है (3) जो आत्म संयमी होता है (4) जो सभी भूतों का हित करने में अपने साथ जो कुछ देखता है उसे सेवा में समर्पित करता है (5) जो काम क्रोधादि दोषों से रहित होता है (6) जो इन्द्रियों को संयम में रखता है (7) जिसे आत्मा का सम्यक् बोध होता है उसी को निर्वाण पद प्राप्त होता है।

जो निर्वाण स्थिति को प्राप्त कर लेता है वही अपने अन्तःपुर में ही सुख प्राप्त करता है। उसे अपने भीतर ही शान्ति सुलभ होती है। अन्तर में ही ज्ञान प्रकाश आलोकित होता है उसका सदा के लिये मोह दूर हो जाता है। सर्वत्र ब्रह्म की अखण्ड सत्ता का अनुभव होता है यही निर्वाण की स्थिति है ऐसे दर्शन, निर्वाण सन्त के दर्शन हैं।

कुछ लोग दीपक लौ बुझ जाने के समान जीवन ज्योति के बुझ जाने को निर्वाण मानते हैं पूर्ण नाश को निर्वाण प्राप्ति कहते हैं, परन्तु हमारे परमगुरु भगवान ने यही निर्णय दिया है किः–

खुली शान्त वायु में बैठकर शान्त होना, उसी में रहना ब्रह्ममय होना निर्वाण स्थिति है। अथवा ब्रह्म के साथ मिलकर शान्ति प्राप्त करना, ब्रह्म की उपासना करना, ब्रह्म के साथ एक रूप होना, ब्रह्म शक्ति पाकर विजयी होना, ब्रह्म के साथ प्रीति करना, ब्रह्म में रहना–यही ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होना है।

(1) जो विषमता में रहने से अशान्त होता है।

(2) जो जड़ देहादि के साथ जड़मय बना रहता है।

(3) जो द्वैत में, द्वन्द्वके मोह बन्धन में रहता है।

(4) जो संकुचित स्थिति में निर्वाह करता है।

(5) जो लोभ, मोह, काम, क्रोधादि से पराजित होता है।

(6) जो ईश्वर की महिमा सुनकर, मानकर भी ईश्वर में प्रेम स्थिर नहीं कर पाता है, अज्ञान में रहता है।

(7) जो विषयों के आकर्षण में खिंचता रहता है।

(8) जो हर्ष, शोक, लाभ, हानि, संयोग, वियोगादि द्वन्द्वों से विचलित होता रहता है, वह सन्यासी, उदासी, वैरागी, निर्वाण वेश में रहकर निर्वाण पद को नहीं पा सका है।

भगवान ने बताया है किः— निर्वाण पद को प्राप्त महात्मा अन्तर में ही सुखी, अन्तर में ही शान्त, अन्तर में ही प्रकाश की पूर्णता प्राप्त करता है।

(1) परमात्मा में ही सर्व भावेन भक्ति होती है। (2) गुणों के प्रभाव से मुक्ति होती है। (3) काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मद, बल का घमण्ड समाप्त हो जाता है। (4) निरन्तर शान्ति रहती है। (5) ममता रहित होता है। (6) शोक तथा कामना का त्यागी होता है। (7) सर्वत्र समभाव में दृढ़ता रहती है। (8) प्राकृतिक विषयों से बाधा नहीं होती। (9) विकारों का आक्रमण नहीं होता। (10) अखण्ड प्रसन्नता रहती है। (11) बुद्धि स्थिर होती है। (12) प्रिय की प्राप्ति में सुख, अप्रिय के संयोग से दुःख नहीं होता। (13) जहाँ से जगत की उत्पत्ति और जहाँ जगत का अन्त होता है। उस आश्रय का ज्ञान रहता है— ऐसा महात्मा ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त है। निर्वाण का अर्थ जीवन का बुझना नहीं है। 'मैं' के, अहंकार के बुझने को निर्वाण कहते हैं।

साधनों को साधो

मानव की सफलता है प्रभु प्रेम के पाने में।
सत्संग सहायक है प्रज्ञा के जगाने में।।
यह तन तो साधनों का है धाम मिला सबको।
अब देर न हो साधन को शुद्ध बनाने में।।
साधन को साधे रहने से सिद्धि मिला करती।
साधन न साध पाना ही हेतु गिराने में।।
हम सबकी सुनते आये प्रभु की नहीं सुनते हैं।
सुख मानते हैं अपनी ही सबको सुनाने में।।
भगवान के मिलने में दूरी है न देरी है।
देरी है मोह ममता अभिमान मिटाने में।।
प्रभु नित्य प्राप्त ही हैं सदगुरु ने बताया है।

हम 'पथिक' स्वयं खोये थे खोज लगाने में।।

समाधान सूत्र

1. स्वयं को न जानना अज्ञान है।

2. ज्ञान में ही सम्यक् दर्शन है। 'स्व' ही दर्शन का द्वार है।

3. जिसके द्वारा सब कुछ जाना, देखा जाता है वही ज्ञान है।

4. जिसका कभी, कहीं अभाव न हो; जो नित्य निरन्तर हो वही सत् है।

5. जो प्रतीत हो पर प्राप्त न हो वही असत् है।

6. जो सदा न रहे क्षण–क्षण बदलता रहे वही अनित्य है।

7. प्रज्ञा द्वारा ही सम्यक् नित्य सत्य का दर्शन होता है।

8. प्रेम की पूर्णता में ही पूर्ण योग होता है।

9. बुद्धि द्वारा जो समझा जाता है वह अहंकार की जानकारी है।

10. अहंकार को देखना और अहंकार के पीछे अखण्ड सत्ता, चेतना की अनुभूति होना ही ज्ञान में दर्शन है।

11. 'मैं' को 'यह' से मिला देना संयोग है।

12. 'मैं' को 'है' से मिला हुआ देखना भक्ति है।

13. ज्ञान ही स्वरूप है। जो नित्य है निरन्तर है वही सत् है।

14. सत् चित् आनन्द ही परमात्मा है।

15. परमात्मा ही नित्य निरन्तर सत् है।

16. लोभी, मोही, अभिमानी अहंकार ही जीव है।

17. जिसमें कामना है वही जीव है, जिसकी दया से कामना की पूर्ति होती है और जिसकी कृपा से कामना की निवृत्ति होती है वही परमेश्वर है।

18. अनुकूलता में ही सुख है, प्रतिकूलता में ही दुःख है। जहाँ तृष्णा, कामना, वासना, प्रतिस्पर्धा संघर्ष है वही दुःख है।

19. जहाँ दुःख है वही अज्ञान है।

20. जहाँ कुछ पाना नहीं है, कोई तृष्णा नहीं है, कोई दौड़ नहीं है, स्थिरता है, प्रसन्नता है, वहीं शान्ति है।

21. किसी वस्तु की, व्यक्ति की, संयोग की कामना, वासना, इच्छा न होना, निष्कामता है।

22. कर्तव्य पालन में, सेवा में, साधना में, प्रतिकूलताओं को शान्त रहकर सहन करते रहना तप है। जिससे दुर्बलता मिट जाये वही तप है।

23. जिससे निर्बलता दूर हो जाये वही देवोपासना है।

24. जिससे प्रलोभन न रहे वही सच्चा व्रत है।

25. प्रभु से दूरी न रहे यही उपासना है।

26. यदि सांसारिक सुखों की ओर मन भागता रहे– यही वासना है।

27. किसी वस्तु व्यक्ति के संयोग–सुख की कामना न हो किसी सुख के प्रति आकर्षण न हो तो यही वैराग्य है।

28. प्रभु से मिले हुए प्रेम को प्रभु के ही प्रति मोड़ देना, मन को उन्हीं में लगा देना अनुराग है।

29. किसी वस्तु व्यक्ति के बिना अधीर होना अशान्त होना ही आसक्ति है।

30. किसी की कामना न रह जाना, एकान्त में शान्त प्रसन्न रहना विरक्ति है।

31. परमात्मा के ही ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य को सर्वत्र अनुभव करना दिव्य दृष्टि है।

32. प्रभु के नाते सभी प्राणियों में आत्मा को देखना और स्वयं आत्मा में ही प्रीति तृप्ति का अनुभव करना अनुरक्ति है।

33. अपने से जो कुछ भी भिन्न है उसके संयोग में सुखास्वाद लेना भोग है।

34. तन में, मन में, बुद्धि में विकारों की वृद्धि होना रोग है।

35. अपने से जो नित्य अभिन्न परमात्मा है, उसमें अपने आप को तृप्त शान्त अनुभव करना योग है।

36. भोग सुखों में आसक्ति ही भक्ति की साधना में बाधा है।

37. जिस आचरण से, जिस सेवा से, जिस परहितकारी प्रवृत्ति से आसक्ति की निवृत्ति होकर परम विरति होती है वही धर्म का आचरण है।

38. मनुष्यों के आनन्द से गन्धर्वों का आनन्द, भूलोक के आनन्द से स्वर्ग लोक का आनन्द बहुत अधिक है।

39. कर्म के सौ आनन्दों के बराबर जो एक आनन्द है वह देवों का आनन्द है।

40. देवों के हजारों आनन्द के बराबर जो एक आनन्द है उसे ब्रह्म–ज्ञान का आनन्द कहते हैं।

41. निर्भयता, पवित्रता, ज्ञान में निष्ठा, दान, शम दम, स्वाध्याय, तपश्चर्या, सरलता अहिंसा, सत्य से ही प्रेम, अक्रोध, शान्ति, भूतदया, निर्लोभवृत्ति आदि दैवी सम्पत्ति से जो सम्पन्न हैं उन्हें देव कहते हैं।

42. दैवी सम्पत्ति अर्थात् जिनमें दिव्य सद्‌गुण हैं उनकी संगति और उनको दान करना, उन्हें प्रसन्न करना यज्ञ है।

43. जो विद्वान अपने कर्मों द्वारा, तन मन वाणी, धन द्वारा मनुष्यों का सत्कार करता है, जनता को संगठित करता है, दान देता है पारस्परिक कर्म में भेद रहते हुए भी प्रीति से एकता का भाव रखता है तथा जो दीनों पर उपकार करता है, दुःखीजनों की सहायता करता है अपनी शक्ति सम्पत्ति योग्यता द्वारा दूसरों के काम बनाता है वही यज्ञ कहा है।

44. जिसके द्वारा क्षति की पूर्ति हो, अशुद्धि में शुद्धता पवित्रता हो एवं शक्ति की वृद्धि हो वही यज्ञ कर्म है।

45. जिससे ज्ञान होता है वह अक्षर है (अक्षरसमुद्भवंब्रह्म)

46. जो अक्षर है वही अव्यय आत्मा है।

47. जो आत्मा है वही चित्स्वरूप है।

48. चित्स्वरूप आत्मा में जो गुण है, वही ज्ञान है।

49. जिसकी सत्ता से सर्वगुण, सर्वभाव, सर्वज्ञान प्रकाशित होते हैं, वही परमात्मा ब्रह्म है।

50. समाज से जिस स्थिति में विवश होकर सेवा सहायता ली गई है उसी स्थिति में रहने वालों की सेवा सहायता करना दान है।

51. कुछ न चाहते हुए स्वधर्म समझकर धन, धान्य, विद्या, मान आदि का दान धर्म दान है।

52. स्त्री में आसक्त होकर, नशे के उन्माद में, जुए की जीत में, चोरी से मिली हुई सम्पत्ति का, अनाधिकारी को देना काम दान है।

53. अपने मान के लिये लोगों के सामने लज्जित होकर कुछ देना लज्जा दान है।

54. किसी के प्रिय कार्य से प्रसन्न होकर कुछ देना हर्ष दान है।

55. अपनी निन्दा से बचने के लिये अनर्थ निवारण के लिये हिंसा से अपनी रक्षा के लिये देना भय दान है।

56. प्रयोजन रखकर बदला पाने के लोभ वश देना, अर्थ दान है।

57. सुपात्र को दान देने से सेवा करने से धर्म बढ़ता है।

58. सत्याग्रह रखने से धर्म उन्नत होता है।

59. क्रोध के त्याग से, क्षमा करते रहने से धर्म स्थिर होता है।

60. क्रोध से धर्माचरण नष्ट हो जाता है।

61. शोक संताप से पापों की वृद्धि होती है।

62. हमें यह भी समझाया गया है कि गुरु विवेक द्वारा पुण्य कर्मों को पूर्ण करते रहने से पापों का नाश होता है। जिस से पतन हो वही पाप है।

63. जो स्वयं में सत्य को जानकर शास्त्रों के शब्दों द्वारा सत्य का परिचय देते हैं वही ब्रह्मविद श्रोत्रिय हैं।

64. जो शास्त्राध्ययन से अतृप्त रहता है वही सत्य का प्यासा है, जो सत्य को जाने बिना कहीं चैन न ले वही पूर्ण जिज्ञासु है।

65. जो नित्य निरन्तर 'है' वही, सुलभ आत्मा है।

66. सत्य में रहते हुए जो सत्य से विमुख है वही अहंकार है।

67. दाता को भूलकर जो दाता से मिले हुए को अपना मान बैठा है वही अहंकार है।

68. जो शुभ अशुभ, पाप पुण्य, राग त्याग, संग्रह तथा दान, भोग और भजन का कर्ता है, भोक्ता है वही अहंकार है।

69. जो लेते हुए, सब कुछ पाते हुए, सदा भिखारी, दीन बना रहता है, माँगता ही रहता है वही अहंकार है।

70. जो नित्य प्राप्त परमात्मा का साक्षात् अनुभव नहीं करने देता वही अहंकार है। जिसे खोजते ही अथवा जानते ही जो कुछ नहीं रह जाता वह अहंकार है।

71. देहाभिमानी ही कामी, लोभी, मोही होता है।

72. जो अपने को पतित देखकर दूसरों को अपने से भी अधिक पतित मानकर सन्तुष्ट रहता है वह पामर है।

73. दूसरों को बुरा मान कर जो अपने को सबसे अच्छा मानता है वह विषयी है।

74. जो सबको अच्छा समझते हुए अपने को बुरा मानता है वह साधक है, गुणदर्शी है, निरभिमानी है।

75. जो सबको परमात्मामय देखता है वह भक्त है।

76. जो सबको अपने से अभिन्न देखता है, वह सिद्ध है।

77. जो अपने को देहमय जानता है वह भ्रान्त है, मुर्दा है।

78. संसार एक चक्र है। अज्ञान में दृश्य सत्य प्रतीत होता है, उस प्रतीति में ही प्रिय अप्रिय का भेद होता है, प्रिय के प्रति राग, अप्रिय से द्वेष होता है; राग द्वेष के अनुसार ही भोगार्थ कर्म में प्रवृत्ति होती है; प्रवृत्ति को दुहराते रहने से संस्कार दृढ़ हो जाते हैं, संस्कार के अनुसार वासना और वासना के अनुसार पुनः प्रवृत्ति होती है। इसी चक्र में सारे जीवात्मा चल रहे हैं। संसार चक्र में चलते रहना द्वन्द्वका मोह है।

79. चक्राकार गति में चलना तो बहुत होता है पर पहुंचना कहीं नहीं होता। कोल्हू का बैल चलता ही रहता है पहुँचता कहीं नहीं; उसी प्रकार भोगीजन संसार चक्र में चक्कर काटते रहते हैं, विश्राम का स्थान चलते रहने वालों को कहीं मिलता ही नहीं– यही माया पाश है।

80. स्वयं में शान्त होना आत्मा में ही बुद्धि को स्थिर करना अर्थात् आत्मा राम में होना विश्राम है। आत्मा राम से विमुख रहने तक काम ही काम है।

81. भीतर बाहर शान्त होना, जो कुछ स्वतः हो रहा है उसके द्रष्टा बने रहना, स्वयं कुछ न करना ही सत् का संग सुलभ होना है।

82. निष्काम होने में ही सत्संग है।

83. निष्कामता ही स्वधर्म में स्थिर रहने की भूमिका है।

84. जो निरन्तर है उसी का संग सत्संग है।

85. सत्संग ही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है।

86. असत् के संग से ही लोभ मोह अभिमान की उत्पत्ति हुई है। इन लोभादि दोषों की निवृत्ति जिससे होती है, वही सत्संग है।

87. दरिद्रता से मुक्त होना है तो पुरुषार्थी होकर दैवी सम्पत्ति प्राप्त करो।

88. पाप से बचना है तो सदैव शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता द्वारा–पुण्य कर्म करते हुए ईश्वर का चिन्तन करते रहो।

89. कलह से बचना है तो मौन धारण करो।

90. बाहर और भीतर अभय रहना है तो सदा अविनाशी परमप्रभु में जाग्रत रहो और दैवी सम्पदा के धनी बने रहो।

91. संग से राग होता है। राग से काम उत्पन्न होता है। काम से भोगेच्छा उत्पन्न होती है, भोगेच्छा से लोभ प्रबल होता है, लोभ से तृष्णा बढ़ती है, तृष्णा से अशान्ति दुःख की वृद्धि होती है, अतः असंग होने में ही मुक्ति है।

92. सत्य की अनुभूति विचारों वृत्तियों में तैरते रहने से नहीं होती, चेतना की गहराई में डूबने से होती है; इसलिये अंतर में घुसना, शान्त मौन होना, विचार रहित, विकार रहित होना, परमात्मानुभूति की साधना है।

93. विषयों से दूर रहकर मन से विषयों का चिन्तन करना संयमी बनने का दम्भ है।

94. जिसके द्वारा काम क्रोध पर विजय मिलती है उसे ही ज्ञान विज्ञान कहते हैं।

95. जिनके द्वारा ज्ञान विज्ञान पर घोर आवरण चढ़ जाता है, उन्हीं को काम क्रोध कहते हैं।

96. जिसके द्वारा काम क्रोध के वेग को रोक लिया जाता है, वही यथार्थ योगाभ्यास है।

97. राग द्वेष का त्याग करना उन्नति, सद्गति प्राप्त करने का प्रथम उपाय है।

98. इन्द्रियों को वश में रखना दूसरा उपाय है।

99. संयम के द्वारा प्राप्त हुई मानसिक, बौद्धिक शक्ति के द्वारा सेवा तथा पर हितकारी कर्म करते हुए सदा प्रसन्न रहना, बुद्धि को स्थिर रखने के लिए तीसरा उपाय है।

100. जो संयम द्वारा योगाभ्यास की सिद्धि नहीं प्राप्त करता, वही आत्मा से वियुक्त है।

101. जो समत्व योग के अभ्यास से बुद्धि को स्थिर कर लेता है, वही युक्त होता है।

102. जो मनुष्य परिवार से समाज से हर किसी से अपनी सेवा कराने के लिये सबकी ओर देखता है, वही भोगी मूढ़ असाधक है।

103. जो पुरुष परिवार जाति समाज में हर एक की सेवा के लिये सबकी ओर देखता है, सावधान रहता है वही यथार्थ साधक है। जो साधक अपने आप में शान्त है, आत्मस्थ है, वही स्वस्थ है।

104. कामनाओं का त्याग करने पर, स्वार्थभाव छोड़ देने पर, निस्पृह इच्छारहित होने पर, ममतारहित होने पर अहंकार के, अभिमान शून्य होने पर जो भी आचरण होता है उससे (अशान्ति न होकर) शान्ति सुलभ रहती है।

105. गीता प्रवचन सुनते हुए पढ़ते हुए कामनाओं के त्याग न कर सकने से तथा इच्छा को, ममता को, अहंकार को न छोड़ पाने से ही जीवन में अशान्ति है।

106. किसी वस्तु को अपनी मानते रहने से ही अहंकार सदा लोभी बना रहता है।

107. किसी सम्बन्धित व्यक्ति को अपना मानते रहने से ही अहंकार, मोही बना रहता है।

108. किसी पद को अपना मानकर अधिकारी बने रहने से ही अभिमान पुष्ट होता है।

109. किसी नाम रूप मय आकार से अपने को तदाकार बना लेने से ही अहंकार पुष्ट रहता है।

110. सम्यक आत्म–ज्ञान में अहंकार की बनावट को देख लेने से ही अहंकार अज्ञान के साथ ही विलीन हो जाता है।

111. इस देह रूपी पुरी में जो बस रहा है उसी को पुरुष कहते हैं। जो मोह लोभ अभिमान में आबद्ध नहीं होता, उसे ही भगवान बुद्धियुक्त कहते हैं।

112. जो शुभ कर्म करना अपना कर्तव्य समझता है, जो शुभ कर्म करते हुए उसके फल पर अपना अधिकार नहीं मानता, जिस कर्म का फल न प्राप्त हो ऐसा कर्म करना ही नहीं है– इस मान्यता को छोड़ देता है, जो आलस्य में बैठे रहकर समय नष्ट नहीं करता, वह भगवान के आदेश, उपदेश को मानने वाला पुरुष है।

113. जो हानि–लाभ, संयोग–वियोग, अनुकूल–प्रतिकूल, सर्दी–गर्मी आदि द्वन्द्वों में आत्मा परमात्मा का नित्य आश्रय लिये हुए कर्तव्य पालन में सम शान्त रहता है, वही समत्व योगी है।

114. (1) जो सकाम कर्म करता है, (2) कर्म का फल अपने लिये चाहता है, (3) फल के लोभवश ही कर्म करता है, (4) फल की आसक्ति से प्रेरित होकर कर्म करता है (5) कार्य सिद्ध होने का घमण्ड और कार्य सिद्ध न होने में दुखी होता है, (6) आत्मा परमात्मा का योग भूलकर कर्म करता है, (7) आलस्य में समय नष्ट करता है, (8) अपने सुख स्वार्थ में ही आसक्त रहता है– वही अयोगी है, कुयोगी है, अन्त में केवल भोगी है, रोगी है।

115. काम क्रोध लोभ ही बुद्धि को पकड़े रहने वाला दलदल है। मोहादि दलदल से मुक्त होने पर ही साधना सफल होती है।

116. जिसकी चंचल बुद्धि है वह असाधक है, उसकी अधोगति होती है। जिसकी स्थिर बुद्धि है वह साधक है उसकी उन्नति, सद्गति होती है।

117. प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य अकार्य बन्धनकारी कर्म कौन हैं? बन्धन से मुक्ति कैसे हो सकती है? इत्यादि बातों का यथार्थ विवेक जिस बुद्धि द्वारा होता है, उसे सतोगुणी बुद्धि कहते हैं।

118. जो बुद्धि धर्म अधर्म, कर्तव्य अकर्तव्य, बन्ध मोक्ष, स्वतन्त्रता परतन्त्रता, देह आत्मा, सत् असत् का निर्णय नहीं कर पाती, वही राजस बुद्धि है।

119. जो बुद्धि अज्ञान से घिरी हुई, अधर्म को ही धर्म, अकर्तव्य को ही कर्तव्य, देह को ही जीव का स्वरूप मानती है; जिस बुद्धि में यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं, जो मन के पीछे रहकर, कामना वासना की पूर्ति के लिये युक्तियां सोचती रहती है वही तामस बुद्धि है।

120. जो आत्मा परमात्मा के नित्य योग का अनुभव कराये, जिसके द्वारा अशान्ति की निवृत्ति हो, सन्देह दूर हों, राग द्वेष भय क्रोध से मुक्ति मिल जाये, वही योगाभ्यास से जाग्रत हुई प्रज्ञा है।

121. इन्द्रियों और मन के सहारे जो निर्णय करती है, उसे बुद्धि कहते हैं।

122. जिसके द्वारा जन्म जन्मान्तरों के संस्कार जाग्रत होते हैं, उसे मेधावी बुद्धि कहते हैं।

123. जिसके द्वारा साधक सत्य परमात्मा का योगानुभव करता है, उसे ऋतम्भरा बुद्धि कहते हैं।

124. जिसके द्वारा परमात्मा का ज्ञान विज्ञान प्रकाशित होता है, उसे प्रज्ञा कहते हैं। इन्द्रियों तथा मन के संयम से मेधावी बुद्धि बढ़ती है।

125. ध्यान योग द्वारा अन्तर दर्शन से ऋतम्भरा बुद्धि बढ़ती है। विषयाशक्ति रहते ऋतम्भरा बुद्धि पूर्ण नहीं होती। समाधि में स्थित होते–होते प्रज्ञा बुद्धि जाग्रत रहती है। प्रज्ञा कल्याणकारी है, प्रज्ञा ही दर्शन की आंख है।

126. जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिससे कभी भिन्नता नहीं होती, जो कहीं सरक नहीं सकता उस पूर्ण परमाश्रय तत्व को परमात्मा कहते हैं।

127. 'मैं हूं' इसीलिये परमात्मा है– ऐसा निश्चय करना विश्वास है।

128. एक किरण ही सूर्य के होने का विश्वास दे रही है।

129. किरण यदि सूर्य को न जाने तो यही विमुखता है।

130. जीवात्मा यदि परमात्मा को न जाने यही विमुखता है।

131. जो प्रेत पिशाच कब्रों को पूजता है, जो अपवित्र भोजन करता है, जो श्रद्धा से रहित होता है, जो देश काल पात्र का ध्यान न रखकर दान करता है, जो तुच्छ भावों से भरा होता है, जो मोह से मूर्ख होता है, जो जड़वत किसी के प्रेरित करने पर कुछ करता है, जो आलसी होता है, धर्म से जिसकी विपरीत बुद्धि होती है, जो अधोगति प्राप्त करता है, वही तामसी प्रकृति का मनुष्य है।

132. जो राक्षस, दैत्य की पूजा करता है, सूक्ष्म भोजन करता है, भीतर का दुर्भाव छिपाकर बाहर सद्भाव प्रकट करते हुए दम्भ करता है, जो बदले की इच्छा से दान करता है, जो भेदभाव रखता है, जो सकाम कर्म करता है, विकारों को जीत नहीं पाता है, हिंसक होता है (जो उत्तेजित होता रहता है, जोश के साथ होश नहीं रखता है) जिसकी बुद्धि यथार्थदर्शी नहीं होती, जो मध्यस्थिति में भोगी बनता है, वही रजोगुणी प्रकृति का मनुष्य है।

133. जो देव पूजा करता है, स्निग्ध पाचक पौष्टिक हित की दृष्टि से भोजन करता है, जो कर्तव्य परायण होता हे, जो देश काल पात्र को देखकर दान करता है, प्रभु से अविभक्त भाव में दृढ़ रहता है, जो विकार रहित होता है, अहिंसाव्रत में दृढ़ रहता है, जो यथार्थ सम्यक बुद्धि युक्त होता है, जो उच्च गति प्राप्त करता है, वही सतोगुणी प्रकृति का पुरुष है।

134. जो मनुष्य भगवान की आज्ञा मानने का दृढ़ निश्चय कर लेता है तदनुसार मन में उठने वाली कामनाओं को छोड़ता है, और आत्मा के निजानन्द से तृप्त होता है, जो दुःखों से खिन्न नहीं होता, सुखों में आसक्त नहीं होता, जो सभी से विरक्त रहता है, निर्भय रहता है, किसी पर क्रोध नहीं करता, उदासीन असंग वृत्ति से रहता है, शुभ की प्राप्ति से आनन्दित नहीं होता, अशुभ से द्वेष भी नहीं करता, जो इन्द्रियों के भोगों को हटाता है, अर्थात् कछुआ की तरह भोग के अवसरों में अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

135. जो किसी इन्द्रिय के भोग में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करता, वही मौनी मुनि है।
136. जो वाणी से मन से बुद्धि से भी मौन हो जाता है अर्थात् जो संकल्पों को रोक लेता है विचारों को शान्त कर लेता है, वही मौनी मुनि है।

137. इन्द्रियों को विषय पथ से रोक लेना मन से संकल्प पूरा न करना विचारों के प्रवाह को वश में कर लेना संयम है। दो अतियों के बीच में रहने को संयम कहते हैं। तटस्थ रहना, साक्षीभाव में शान्त रहना, समाधि को सिद्धि करने वाला संयम है।

समाज के शत्रु

138. (1) जो आलसी है, (2) जो केवल पुस्तक पढ़ते रहते हैं, (3) जो असत् चर्चा में समय काटते हैं, (4) जो सूद (ब्याज) के धन से भोग करते हैं, (5) जो अश्रद्धालु हैं, (6) जो सत्कर्म नहीं करते, (7) जो अपनी उन्नति का उपाय नहीं करते, (8) जो यज्ञ विधान से प्राप्त शक्ति,

सम्पत्ति, योग्यता, अधिकार के द्वारा दूसरों की सेवा में सदुपयोग नहीं करते; यही मानव समाज के शत्रु हैं।

139. जो कुछ मिला है, उसमें से कुछ न देकर जो भोग करता है वह मानव समाज में चोर कहा गया है।

140. परमगुरु भगवान का निर्णय है कि जो यज्ञमय जीवन नहीं व्यतीत करता, जो दानी नहीं होता उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है।

141. यज्ञमय जीवन व्यतीत करने वाले धर्मात्मा, सज्जन, यज्ञ न करने वालों के भोगों को प्राप्त करते हुये पुण्य के धनी होते हैं।

142. जिस राष्ट्र में ज्ञानी बलवान धनवान श्रमवान दूसरों के लिये यज्ञ कर्म नहीं करते, वह राष्ट्र उन्नत नहीं होता।

कई प्रकार के यज्ञ

143. श्रम यज्ञ, संयम यज्ञ, प्राण यज्ञ, इन्द्रिय यज्ञ, प्राणापान यज्ञ, अपान यज्ञ, विषय यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, देव यज्ञ, तपो यज्ञ, जप यज्ञ, कर्म यज्ञ, अन्तर प्राण यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, विज्ञान यज्ञ, जीव यज्ञ, आत्म यज्ञ, ब्रह्म यज्ञ इत्यादि यज्ञ वर्णित हैं।

144. जगत के प्रति सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि द्वारा जो कुछ हो रहा है, उसे ही यज्ञ कहते हैं।

145. यज्ञ में पूज्य भाव बढ़ता है, पूजा होती है, संगठन होता है, दान होता है।

146. यज्ञ ही उन्नति का साधन है। कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्थात् नेत्र, कान, रसना, हाथ आदि के द्वारा देह में यज्ञमय कर्म हो रहे हैं। प्रत्येक इन्द्रिय एक दूसरे के लिये कर्म कर रही है।

147. यज्ञकर्ता मनुष्य इन्द्रलोक में, दान कर्ता चन्द्रलोक में और व्रतों को पूर्ण करने वाला सूर्य लोक में जाता है।

148. जो दानी है, जो यज्ञ कर्ता है वही राजा होता है।

149. मन से वचन से कर्म से चराचर को जो संतुष्ट करता है, पूजन करता है, आराधन करता है, वही यज्ञकर्ता है।

150. श्रद्धापूर्वक किसी प्रकार से पूजन करना ही यज्ञ कर्म है।

151. जो मनुष्य अपना ही पेट भरता है, अपनी इन्द्रियों द्वारा सुख भोगता है, कर्तव्य विमुख रहकर सोता है, वही मानव आकृति में पशु है।

152. जो देह का ही पोषक है, धन का संचय करता है, धन की रक्षा में ही जीवन व्यतीत करता है, वही मानव आकृति में राक्षस है।

153. जो धन मद, बल मद, अधिकार मद, विद्या मद से उन्मत्त है, वही मानव आकृति में दानव है।

154. जो दूसरों की सेवा, परोपकार में लगा रहता है, जो धर्म परायण है, वही यथार्थ मानव है।

155. जिसे जगत चाहता है, जो जगत से कुछ नहीं चाहता, वही धर्मात्मा मनुष्य है।

156. जो सभी भूतों के हित में तत्पर है, वही महात्मा है।

157. जो दोष रहित है, निष्काम है, संग के प्रभाव से मुक्त है। नित्य शान्त है, आत्मा में ही स्थिर है, वही संत है।

158. मन के अधीन रहना पशुत्व है, मन को अधीन रखना मानवत्व है, दिव्यता से युक्त होना देवत्व है।

159. अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये जो अपने ऊपर पूर्ण नेतृत्व रखकर राष्ट्र के हित के लिये जो अपने व्यक्तिगत सुख अथवा परिवार के लोभ को छोड़ देता है, वही सच्चा नेता है।

160. व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास की चरम सीमा ही विश्वरूप है, इसी प्रकार विश्व का बीज, एक व्यक्ति है। व्यक्ति एक सूक्ष्म बिन्दु है और विश्वरूप उसके परम विकास की अवस्था है। व्यक्ति में विश्व और विश्व में व्यक्ति है।

161. भगवान की आध्यात्मिक दृष्टि से यह शरीर रथ है, इन्द्रियां घोड़े हैं, मन इन्द्रियों का चालक है, बुद्धि सारथी है और जीवात्मा रथ में बैठने वाला रथी है।

162. जो कभी अत्याचार नहीं करते, अधर्म की बात नहीं करते, जो असतभाषी, असतगामी नहीं होते, वही आप्त पुरुष है।

163. धर्म, अर्थ (धन), काम और मोक्ष – यही चार पुरुषार्थ हैं।

164. कर्तव्य पालन करना, धर्मपूर्वक धन कमाना, धर्मानुकूल भोग करना और अंत में बंधनों से मुक्ति पा जाना, यही पुरुष के लाभ–रूप चार अर्थ बताये गये हैं।

165. यह सारा ब्रह्माण्ड मिलकर परमेश्वर की विराट देह है। इस विराट देह के रूप में सभी प्राणियों के हित का ध्यान रखकर सुख पहुंचाना ही परमेश्वर की सेवा है, यही भजन हैं

166. जो अग्नि से घर जलाये, शस्त्र से निरपराधी को मारे, जो किसी की स्त्री भूमि धन को छीन ले, जो दूसरों के छिद्र ढूंढ़ने में तत्पर रहे, जो राजा से चुगुली करे, जो हत्या करे उसे आततायी कहते हैं। इनमें से जो भी लक्षण किसी में निकलें उन्हें आततायी के लक्षण समझकर त्याग देना चाहिये।

167. जो गृहस्थ होकर स्त्री पुत्रादिक का भरण पोषण नहीं करता, उन्हें छोड़ देता है वह पापी है। जिससे पतन हो वही पाप है।

168. जो सुयोग्य हो, श्रेष्ठ हो, उच्च कुलीन हो, स्वामी हो, सदाचारी हो, दैवी गुणों से युक्त हो, उसे आर्य कहते हैं।

169. जो सम्यक ज्ञान के लिये सर्व ज्ञानों से विमूढ़ न होने वाले तत्ववेत्ता, सत्यदर्शी, महात्मा की शरण लेता है, वही शिष्य है।

170. जगत में जितने पदार्थ हैं अथवा देह में जितने तत्व हैं, उन सब की संख्या बताकर सत्य असत्य का ज्ञान प्राप्त करा दे, वही सांख्य योग है। संख्या के निर्णय करने वाले ग्रन्थ को सांख्य शास्त्र कहते हैं। तत्वज्ञान कराने वाले को सांख्यशास्त्र कहते हैं।

171. जिन्हें आत्मा परमात्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान है, जो जीवितों या मृतकों के विषय में शोक नहीं करते वही तत्वदर्शी पण्डित हैं। केवल शास्त्र पढ़ने मात्र से ही पण्डित शोक रहित नहीं हो जाते।

172. जो बाह्य इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त हैं और नित्य चेतन आत्मा में बुद्धि को स्थिर करता है, उसे ही आत्मिक सुख मिलता है।

173. जो निद्रा को जीत लेता है, उसे ही गुडाकेश कहते हैं।

174. जो इन्द्रियों का स्वामी है, उसी को गोविन्द कहते हैं।

175. किसी का अहंकार देहगत व्यक्ति में ही सीमित रहता है, किसी का परिवारव्यापी होता है, किसी का जातिव्यापी, किसी का अहंकार राष्ट्र रूप में, किसी का मानव समाज रूप में एवं किसी का अहंकार समष्टि प्राणिमात्रमय हो जाता है और किसी का विश्वरूप में अभिव्यक्त होता है।

176. भगवान विश्वरूप में अपने को व्यक्त करते हैं और नर पुरुष एक परिवार के रूप में अपने को सीमित करता है, उसी नररूप अर्जुन को नारायण कृष्ण का जो उपदेश आदेश सन्देश निर्देश है, उसी को गीता कहते हैं।

177. जो पापनाशक आनन्द स्वरूप ऐश्वर्य को अपनी ओर खींचने वाला है, वही श्रीकृष्ण है।

178. जो मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ है, जो सर्वमय है, वही गीता में पुरुषोत्तम है।

–जय गुरुदेव–